ॐ

[श्री. स्वा. दयानंद-जन्म-शताब्दिके उपलक्ष्यमें विरचित]

वैदिक उपदेश माला।

(प्रतिमास एकएक उपदेश ग्रहण करके अपनानेके लिये)

रचयिता

श्री. पं. अभय देवशर्मा विद्यालंकार

वेदाध्यापक गुरुकुल कांगडी, (जि. बिजनौर)

प्रकाशक

श्रीपाद दामोदर सातवळेकर,

स्वाध्यायमंडल औंध, (जि. सातारा.)

संवत् १९८२, सन १९२५.

ॐ

सर्वज्ञानस्वरूप परमगुरुको स्वतः समर्पण होनेके अनन्तर

यह

मेरी प्रथम रचना

ऋषि दयानन्दके सच्चे अनुयायी,
वैदिक धर्मके मर्मको समझनेवाले
तथा इस महान् धर्मको क्रियान्वित
करने वालोंमें अग्रगण्य

स्वामी श्रद्धानन्द महाराज

के आचार्य चरणोंमें अर्पित हो।

"अभय"

भूमिका ।

पाठक देखेंगे कि इस पुस्तकमें बारह वेदोपदेश संगृहीत हैं । ये बारह लेख पं० देवशर्माजीनें ऋषि दयानन्द शताब्दिके इस मोहत्सवसे (जोकि मथुरामें १९८१ संवत् की शिवरात्रीपर मनाया जा रहा है) बारह महीने पहिले लिखने प्रारम्भ किये थे और क्रमशः स्वाध्याय मंडल के मासिक पत्र "वैदिकधर्म" में प्रतिमास एक एक उपदेश करके प्रकाशित होते रहे थे । प्रतिमास एक एक लेख लिखनेका प्रयोजन क्या था यह बात लेखक महोदयने प्रथम मासके उपदेश की भूमिकामें स्पष्ट कर दी है । पाठकोंको उचित है कि वे इसे भली प्रकार समझलें । एक एक वाक्यमें कहें तो इसका प्रयोजन यह था कि "**पाठक एक एक वैदिक उपदेशको एक एक महीनाभर अभ्यास करते हुए अपने जीवनमें लानेका यत्न करें**" तदनन्तर दूसरे उपदेशको पढें । "**वैदिकधर्म**" में इन लेखोंको पढकर जिन्होंनें इनका अनुशीलन किया होगा उन्होंने तो लाभ उठाया ही होगा, किन्तु जिन्हें कि इन वेदोप-देशोंके पढनेका अवसर नहीं मिला है, उन बहुतसे सज्जनोंके लिये तथा जिन थोडेंसे पुरुषोंने इन्हे एकबार पढा है, उनके भी पुनः पुनः स्वाध्या-यके लिये इन बहुमूल्य वेदोपदेशोंको इस पुस्तकमें एकत्र छापकर स्थिर करना मैंने आवश्य समझा है । इन उपदेशोंमें बतलाये गये सत्य सिद्धान्त सार्वभौम तथा सार्वकालिक हैं और ऋषि दयानन्दका जिवन हमें सदैवही शिक्षाप्रद है, इस लिये में इन लेखोंको जैसा का तैसा पुनः प्रकाशित कर रहा हूं, और आशा करता हूं कि, यह उपदेश माला शताब्दि महोत्सवके उपरान्त भी जब जिस किसीके हाथमें पहूंचे उसे तभीसे प्रतिमास एक एक उपदेशको अपने जीवनमें चरितार्थ करते हुवे

अपने आपको ' **गहरा और सच्चा** ' **वैदिक धर्मावलम्बी** बनाना चाहिये, अपनेको ' **सच्चा आर्य** ' बनाना चाहिये । क्या पाठकों को यह बतलानें की जरूरत है की परमात्माके दरबारमें सचाई ही स्वीकृत होती है, नाम नहीं और सचाईको प्राप्त करनेके लिये ' **धर्मको जीवन में लाना** ' यही एक उपाय है।

यह वैदिक उपदेशोंकी माला वैदिक धर्मके प्रत्येक प्रेमीके लिये है। इसमें बारा मनके है । एक वर्षमें यह माला फेरी जाती है। अभ्यासी इस मालाके प्रत्येक वैदिक तत्त्वरूपी मनकेके फेरनेमें एक माससे कम या अधिक समयभी लगा सकता है । परन्तु यह सकते है कि इस मालाके बार बार फेरनें—बार बार मनन करनेसे ही कल्याण होगा। प्रत्येक पुरुषको चाहिये कि वह धर्मको—वेदोक्त धर्मको—अपनी जान समझे प्रत्येक आर्यको जिस किसीके पास यह छोटासा पुस्तक पहुंचे, इसका ऐसा सदुपयोग करना चाहिये कि वह प्रत्येक वर्ष (प्रत्येक बारह मासोंमें) इस मालाको फेरता हुवा दिनोंदिन वेदके प्रतिपाद्य एक तत्व—भगवान के अधिक अधिक समीप पहुंचता जाय । इस विषयमें मनमें जरा भी सन्देह नहीं रखना चाहिये कि, वेदका एक भी शब्द अच्छी तरह समझा हुवा हमें पार तारनेमें पर्याप्त है।

स्वाध्याय मंडळ,
औंध (जि. सातारा)
१ माघ सं० १९८१

निवेदक
श्रीपाद दामोदर सातवळेकर.

ॐ

[दयानन्द जन्म शताब्दिके उपलक्ष्यमें श्री० पं० अभय विद्यालंकार द्वारा संगृहीत ।]

वैदिक-उपदेश-माला ।

(१) उपदेश ग्रहण करना ।

संश्रुतेन गमेमहि मा श्रुतेन विराधिषि ।

दयानन्द जन्म शताब्दिका महोत्सव हम मनाने के लिये उद्यत हो रहे हैं। उत्सव के कार्य तथा प्रचार कार्य के लिये धन एकत्रित हो रहा है, आर्य समाज के सभासद खूब बढाये जा रहे हैं, धर्म प्रचार के लिये कई ग्रन्थ तैयार किये जा रहे। मतलब यह है कि वैदिक धर्मी समाजमें खूब यत्न हो रहा है। यह सब उत्तम है, शुभकार्य है। परन्तु फिर भी मेरा चित्त पूंछता है; कि क्या यह सौ वर्ष के बाद आनेवाला उत्सव यूं ही बीत जायगा— आयेगा और चला जायगा !

इसलिये मेरे असंतुष्ट चित्तने प्रश्न उठाया है, कि इस महोत्सवमें मैं अपना क्या बनाउँ ? एक ऋषिके इस सार्वभौम स्मरण के शुभ

अवसर से मैं अपना कल्याण किस प्रकार कर सकता हूं और फिर निश्चय किया है, कि इस अवसरसे लाभ उठाकर मैं अपने को दृढ "**वैदिक धर्मी**" बनाउं। इन आगामी १२ महीनोंमें प्रतिमास एक एक वैदिक उपदेश को चुनकर उसे अपने जीवन में चरितार्थ करनेका यत्न करूं, और दयानन्द के पवित्र उच्च जीवन से इसमें सहायता लूं, जिससे कि अगली शिवरात्रि तक मैं १२ वेदोपदेशों से सज्जित होकर अपना उत्सव मना सकूं। उस दिन मैं कह सकूं, कि मैं **वैदिकधर्मी** हूं, यह कह सकूं, कि मैं दयानन्द का शिष्य हूं। बस मैं इसी प्रकार दयानन्द महोत्सव को मनाना चाहाता हुं। इसीसे मेरा चित्त संतुष्ट होता है। **विस्तार की उन्नति की अपेक्षा गहराई की उन्नति से ही मुझे विशेष संतुष्टि मिलती है।** आर्य समाजी कहने वालों की संख्या बढनेसे मेरे चित्तको संतोष नहीं मिलता, पुस्तकों और व्याख्यानों के बहुत हो जानेसे भी संतोष नहीं मिलता परन्तु यदि हम थोडे से मनुष्य ही उथले वैदिक धर्मीओंके स्थानपर गहरे वैदिक धर्मी बन जांय तो इससे बढकर वैदिक धर्म की सेवा मैं और कुछ नहीं समझता—उपदेशों के फैलानेवालों की जगह उपदेशों को धारण करने वाले समुद्र हम बनजांय, तो इससे बढ कर वैदिक धर्म का प्रचार मैं और कुछ नहीं समझता। इसलिये मैं उन वैदिक धर्मी सज्जनों के लिये जिनका कि मन मेरे जैसा है, इस लेखमाला में प्रतिमास उस उपदेश को लेख बद्ध करनेका यत्न करूंगा, जो कि उपदेश मैं वेद से—और दयानन्द के जीवनसे—ग्रहण कर उसे महीनेभर अपने जीवन में लाने का यत्न

करूंगा। और इन्हीं पाठकों को दृष्टि में रखकर में इस लेखमालामें प्रायः " मैं " की जगह " हम " शब्द का प्रयोग करूंगा ॥

तो आइये सबसे पहिले हम यह प्रार्थना करें ।—

ऊत नो धियो गो अग्राः पूषन्
विष्णवेवयावः । कर्ता नः स्वास्तिमतः ॥

हे पोषक देव, हे व्यापक देव, हे ज्ञान प्रापक देव, हमारी बुद्धिया (ज्ञान) गो अग्र (गमन है आगे जिनके ऐसी) होवें । इस प्रकार हमें आप कल्याणयुक्त कीजिये ।

कल्याण का मार्ग सचमुच यही है, कि हमारे सब ज्ञान ऐसे हों कि उनके आगे गमन हो । जो कुछ हमें ज्ञान हो, जैसी हमें बुद्धि मिले वैसा हमारा गमन जरूर हो, वैसा हमारी इन्द्रियां कर्म करें । यही पहिला उपदेश है-मूलका उपदेश है, जिसके विना हम आगे नहीं चल सकते । हमें सबसे पहिले उपदेश ग्रहण करना सीखना चाहिये । तब हम किसी उपदेश को ग्रहण कर सकेंगे । जो कुछ हमें ज्ञान मिले, उपदेश मिले उसे हम करें—आचरण में लावें-तद-नुसार गति करें, यह पहिली बात हमें इस महीने सीखनी है ।

शिवरात्रि की घटना में इससे अतिरिक्त और दया है । दया-नन्दने इस रात्रि को बोध प्राप्त किया । शिवलिंग पर चूहे के चढ-नेकी घटना ने दयानन्द को प्रबुद्ध कर दिया । क्या उस रात्रिको किसीने वेदमन्त्र सुनाकर दयानन्द को उपदेश दिया था, या मेजके पीछे खडे हो कर किसीने व्याख्यान सुनाया था । परन्तु फिर भी

उस रात्रिसे दयानन्द को एक ऐसा बोध मिला कि जबतक दयानन्द का दुनिया में नाम है, तबतक यह रात्रि बोध—रात्रि के नामसे प्रसिद्ध रहेगी। इसलिये सौ बातों की एक बात यह है कि दयानन्द उपदेश ग्रहण करना जानते थे-वे उपदेश ग्रहण करने के लिये तैय्यार थे इसलिये उन्हें उपदेश मिला। यही दयानन्द का मूल है। हम भी यदि उपदेश ग्रहण करना जान जाय, तो हमारे भी परम कल्याण का मूल यही बात हो सकती है। बस—

– उपदेश ग्रहण करने वाले बनो॥

उपदेश ग्रहण करने वाले बनो॥

शिवरात्री की घटना चिल्ला चिल्ला कर दयानन्दके शिष्यों को यही उपदेश दे रही हैं। क्या हमें यह उपदेश सुनाई देता है, या हम उन्हीं लोगों में से हैं, जिनके कि विषय में वेद ने कहा है—

– उतत्वः पश्यन्न ददर्श वाचमुतत्वः शृण्वन्न शृणोत्येनाम्।

ऋ. १०।७१।४.

एक ऐसे लोग हैं जो देखते हुवे भी नहीं देखते सुनते हुवे भी नहीं सुनते।

कहीं हम ऐसे तो नहीं हो गये हैं, कि हमारे कान खुले हुवे हैं, तो भी हमें सुनाई नहीं देता! यह बहुत ही बुरी अवस्था है।

सुनो, शिवरात्रिका उपदेश सुनो।

अच्छी आदत के कारण जहां मनुष्यका भला आसानी और शीघ्रता से होने लगता है, वह बुरी आदत के कारण पतनभी इतने

वेग से होने लगता है, कि उसका लौटना अत्यन्त दुष्कर हो जाता है। आदत ऐसी ही वस्तु है। प्रतीत होता है, कि हमें यह आदत पड गयी है, कि " **हम उपदेश पढें, व्याख्यान सुन लेवें, पर उसके अनुसार कर्म न करें** "। जरा ध्यान से सोचें कि यह कितनी भयंकर बात है। ऐसी आदत पड गयी है, उसका उद्धार होनेकी क्या कभी संभावना है वह जो कुछ सदुपदेश की बात सुनेगा, या पढेगा, वह उसे मान ही नहीं सकता-वह उसे ग्रहण ही नहीं कर सकता, क्योंकि यह उसकी आदत हो गयी है। यह बात अच्छी-तरह विचारने योग्य है। यदि किसी को यह रोग हो जाय कि वह जो कुछ खावे, वह सब वैसा का वैसा निकल जाय, तो उसके घर भरमें घबराहट हो जायगी-लोग वैद्यों हकीमों के पास दौडेंगे-जी जानसे सब कुछ करेंगे-और यह भी हम जानते हैं कि यदि ठीक इलाज न हुआ, तो उसका मर जाना निश्चित है। परन्तु महा आश्चर्य की बात यह है, कि हम में से बहुतों के मानसिक शरीर में यह भयंकर बीमारी हो चुकी है-परन्तु हम बिलकुल बेखबर हैं। हमें कुछ चिन्ता नहीं। ऐसे भी बहुतसे मनुष्य हैं, जिनकी कि इस घोर व्याधिसे मानसिक मृत्युभी हो चुकी है,-यद्यपि उनके केवल स्थूल शरीरको दृष्टिमें रख कर कह सकते हैं, कि वे अभी जीवित हैं। क्या आप इस घातक रोग को समझे? उपदेश आदिसे जो हमें ज्ञान मिलता है, यह ही मानसिक भोजन है। जिन्हें यह आदत हो गयी है कि वे सुनते जाते है, और पढते जाते हैं, परन्तु उनपर उसका कुछ असर नहीं होता-उनका सुना और पढा वैसाका वैसा

निकल जाताहै, उनकी भगवान ही रक्षा करें । महादुःख तो यह है कि उन्हें अपनी बीमारी पता ही नहीं है ! इस लिये हमें इस महीने अपने अन्दर टटोल कर देखना चाहिये, कि कहीं हमें यह रोग तो नहीं हो गया है ? रोगका पता लगनेपर उसका हटाना कठिन नहीं है । परमात्मा सदा सहायक है । यदि हममें से किसी को यह रोग हो. तो सबसे पहिले उसे इससे मुक्त होना चाहिये । वे अपनी आदत को बदल डालें महीना भर यत्न करें कि जो कुछ उन्हें जहां कहीं से ज्ञान मिसे, उसे अपने जीवन में लाने के लिये वे सब कुछ करे । तो कल्याण का मार्ग खुल जायगा । यही पहिला कदम है । जो सुनेंगे, वह करेंगे, यह निश्चय करना चाहिये । इस निश्चय के विना सब पढना या सुनना व्यर्थ है । व्यर्थ ही नहीं, अत्यन्त हानि कारक है, क्यों कि यह उस नरकमें ले जानेवाली आदत को बढायेगा । इस लिये आज से हम दृढ निश्चय करके इस आदत को एकदम त्याग दें और परमात्मासे पूर्ण विनय के साथ प्रार्थना करें ।—

सं श्रुतेन गमे महि मा श्रुतेन विराधिषि । अथ० १।१।४.

हम जो कुछ सुनें उससे हम संगत हो जाय-जुड जांय, जो कुछ सुनें. वह निकल न जाय ।

इसी का नाम हे "**उपदेश को ग्रहण करना ।**" इसीं का नाम हैं मानसिक भोजन को प्राप्त करना ।

यदि हम उपदेश ग्रहण करना सीख जाय, तो हमारे लिये सब तरफ उपदेश ही उपदेश हैं । जैसे दयानन्दने उस रात्रिकी घटनासे

उपदेश लिये हम भी प्रतिदिन प्रकृतिसे, मानवी संसारकी घटनाओंसे उपदेश ले सकते है। परम कारुणिक भगवान हम पर उपदेशोंकी वर्षा कर रहे हैं, केवल हम उन्हें सुनते नहीं है! यदि हम सुनने लगें, तो हम देखेंगे, कि उदय होता हुआ सूर्य हमें कुछ कहता है, तारा जटित रात्रिका आकाश हमें कुछ सुनाता है, बहती हुई नदिया और ऊचें खडे हुवे पहाड, वृक्षके हिलत हुवे पत्ते और बहता हुवा पवन, बल्कि प्राणि ओं के जटिल संसार में होने वाली घटनामें ये सब हमें उपदेश दे रही है।

वृक्षसे गिरते हुवे सेवका उपदेश न्युटन ने सुना और वह आज सारे वैज्ञानिक संसार का "गुरु" हो गया है!!!

ऊपर से गिरती हुई चीजें हममें से किसने नहीं देखी है! परन्तु हम देखते हुवे भी नहीं देख ते, सुनते हुवे भी नहीं सुनते। चरण दास महात्मा कहते हैं, कि मैं ने २४ गुरु बनाये हैं, वे २४ गुरु है छिपकली, मकडी, वृक्ष, इत्यादि भगवान् बुद्ध ने एक वेश्या के गीत से वह उपदेश लिया, जिसके कि कारण उनका जीवन पलट गया, परन्तु हम बडे बडे विद्वान पुरुषों के उपदेश सुनते हैं और वेदोपदेश सुनते हैं, तो भी हमारे पल्ले कुछ नहीं पडता। कारण यही है, कि हम उपदेश लेनेके लिये तैय्यार नहीं हैं, हमारे आख और कान खुले नहीं है। इसलिये हरएक प्रकारसे सबसे पहिली बात यही हैं, कि हमें उपदेश ग्रहण करना सीखना चाहिये-उपदेश के लेनेके लिये तैयार होना चाहिये। आरे सब बातें इसके बाद में हैं।

वेद **" सचमुच रत्नों की खान है, "** और ऋषि दयानन्द के जीवन से भी हम बहुत से रत्न प्राप्त कर सकते हैं, परन्तु यदि हम इस पाहिली बात को नहीं सीखेंगे-रत्नोंको ग्रहण करना उठाना नहीं जानेंगे, तो हम रत्नों के ढेरके बीचमें बैठे हुवे भी कंगालके ही कंगाल रहेंगे। इसमें किसी और का क्या दोष है!

(२) एकान्त विचार

देवा इवामृतं रक्षमाणाः सायं प्रातः सौमनसो वो अस्तु।

अथ० ३-३०-७

यदि हमने यह निश्चय कर लिया है कि हमें जो कोई ज्ञान प्राप्त होगा उसे हम अवश्य ग्रहण करेंगे तो हमे अब स्वभावतः यह जानने की इच्छा होगी कि उस ज्ञान को, उस उपदेश को-धारण करने, अपने में स्थिर करनेका उपाय क्या है?

इसका एकही उपाय है और इस बात में किसी का भी मतभेद नही है। इस उपायको यदि मैं ठीक ठीक शब्दों में प्रकट करना चाहूं, तो इन दो शब्दों में रख सकता हूं। **' एकान्त विचार '** हमें जो कुछ उपदेश मिले एकान्त में होकर उस पर बार बार विचार करना चाहिये। इस प्रकार उसे हम अपने में स्थिर कर सकते हैं। जैसे कि मुझे ज्ञान हुआ कि

सत्य बोलना चाहिये तो किसी समय बैठ कर मुझे सोचना चाहिये कि यह बात कहां तक ठीक है ? यदि ठीक है तो मैं सत्य क्यों नहीं बोलता हूं: किन किन प्रलोभनों अथवा भयों के कारण असत्य बोलता हूं: उनके जीतने का उपाय क्या है ? असत्यसे मेरी क्या हानि हुई है ? सत्यका जीवन में किन किन वस्तुओंसे सम्बन्ध है ? इत्यादि इत्यादि सत्य पर खुब विचार करना चाहिए। इस प्रकार यह वस्तु मेरी हो जावेगी। नहीं तो यदि मैं सत्यपर एक बडीभारी पुस्तक भी पढ डालूं, परन्तु इस पर कभी स्वयं विचार न करुं तो मेरा सत्यसे कभी भी कोईभी सम्बन्ध नहीं स्थापित होगा-सत्य मेरे जीवनमें नहीं आवेगा ! जैसे कि बाहर रखे हुए भोजनका मेरे शरीर से कुछ सम्बन्ध नहीं है ऐसे हा पुस्तक पढ लेने पर भी मेरा सत्यसे कुछ सम्बन्ध नहीं होगा। इसके लिये तो विचार करना चाहिए-मनन करना चाहिये। और जो मनुष्य मनन करने वाला है उसे तो इतनाही ज्ञान मिलना पर्याप्त है कि "सत्य बोलना चाहिये"। वह मनन द्वारा इसका स्वयमेव विस्तार कर लेगा और इसे अपने में धारण भी करलेगा।

हम में से कई यों को बडी बडी पुस्तकें पढने या लम्बे लम्बे व्याख्यान सुननेका व्यसन होगा परन्तु यदि एक बात को लम्बा ही करना है तो मैं उन्हें यह सलाह दूंगा कि वे उसे अपने मन द्वारा उसपर मनन कर उसे लम्बा कर लिया करें; उसकी अपेक्षा कि वे एक लम्बी पुस्तक पढें या एक लम्बा व्याख्यान सुनें। अपने को अपने आप व्याख्यान देना चाहिये। स्वयं विचार करते समय वस्तुतः

यही क्रिया होती है। जिनको ऐसा व्यसन नहीं है उन्हें भी जब कभी कोई विस्तृत उपदेश पढनेका अवसर आवे तो उन्हें चाहिए कि वे उस विस्तृत कथन को संक्षेप से मनमें रखें और फिर एकान्त में अपने मन द्वारा उसका पुनः विस्तार करें। इस दूसरे अपने मन में किए विस्तारसे वह उपदेश उसमें गृहीत हो जायगा-उसका अपना बन जाएगा। ज्ञान को धारण करने का, मानसिक भोजनको हजम करनेका यही उपाय है—'एकान्त विचार'

यहां 'एकान्त' कहनेसे क्या मतलब है ?। हम प्रायः सदैव ही बाहिर के प्रभावों से प्रभावित होते रहते हैं-अपनेसे अतिरिक्त बाहिर की वस्तुएं हमारा ध्यान आकृष्ट करती रहती हैं. और हमारा मन उन ही का चिन्तन करता रहता है। इत प्रभावों और बाह्य विचारों को कुछ समय के लिये हटाकर अपने आपमें अकेले होकर बैठिए। एकान्त होनेसे यही मतलब है। इस अवस्थामें बैठने से ही अपने पर ठीक प्रकार विचार किया जा सकता है।

मनुष्य असलमें है ही अकेला, अपने कर्मफल पाने में उसका कोई और हिस्सेदार नहीं है। जब हमें कोई कष्ट क्लेश होता है तो हमारे परम से परम हितकारी भी हमारा कुछ नहीं कर सकते, जबतक कि हमारे अपने कर्मानुसार वैसा होना सम्भव न हो। इस लिए मनुष्यने अपना असली मार्ग अकेले ही तैयार करना है। दूसरा मनुष्य थोडासा सहायक हो सकता है, पर चलना उसने अपने आप है। इसलिये एकान्त होना अपने को अपनी स्वाभाविक अवस्थामें लाना है। इसीको 'स्वस्थ' होना कहते हैं-अपने आप में

स्थित होना। " कैवल्य " का भी अर्थ यही है-केवल होना, अकेला होना। इस लिए प्रति दिन अकेले होकर-अपनी आत्मा के पास बैठकर-अपनेपर विचार करना चाहिए।

इसीका नाम आत्म परीक्षण है। जैसे कि एक बनिया अपने हानि लाभ का हिसाब करता है वैसे प्रत्येक मनुष्य को अपने परम हानि लाभ का प्रति दिन हिसाब किताब करना चाहिए। मैं कमा-रहा हूं या खो रहा हूं, इसका हिसाब न करने वाले पुरुष का यदि प्रति दिन घाटा हो रहा हो, तो भा उसे इसका पता न हीं लगेगा। तो वह घाटेको पूरा कैसे करेगा! बिना आत्म परीक्षण के अपना उद्धार कैसे करेगा?

आत्म—परीक्षण प्रारंभ करने पर कईयों को बडी घबराहट होतीं है। अपनी अन गिनत त्रुटियां दिखाई पडती हैं, बडा भारी घाटा हुआ अनुभव होता है। इस हबराहट के मारे कई भाई आत्म परी-क्षण करना छोड देते हैं। पर उन्हें यदि यह पता लग जाय ता बडा भला होगा कि इस घबराहट को सहना चाहिये क्यों कि इस घबराहट के सह लेने पर अपने अन्दरसे उन्हें बडी शान्ति दायिनी सान्त्वना मिलेगी और फिर दिन प्रति दिन आत्म-परीक्षण में इतना आनन्द आने लगेगा कि वे फिर उमर भर इस एकान्त विचार को नहीं छोड सकेंगे।

इस विचार के लिये स्वाभाविक समय है प्रातःकाल और सायं-काल। हमारी दो अवस्था ओंके ये अन्तके समय हैं। ' जाग-रितान्त ' और ' स्वप्नान्त ' से आत्माको जाना जा सकता है ऐसा

उपनिषद्में कहा है। प्राकृतिक दृष्टिसे भी यह समय हमारे मननके लिये बहुत अनुकूल है। स्वभावतः इन समयों में आत्मा के पास बैठा जाता है। इन ही समयों मे प्रति दिन बैठ कर हमें अपने लाभ और हानि पर-अपनी अवस्थापर विचार करना चाहिये। यदि कोई मनुष्य अपनेमेंसे कोई दुर्गुण हटाना चाहता है तो वह कभी नहीं हटा सकता, यदि वह कभी अपने पर विचार नहीं करता। वह चाहे कितने उपदेश सुनता रहे। यदि मैं क्रोध छोडना चाहता हूं तो मुझे प्रति दिन सायं प्रातः विचार करना चाहिए कि मैंने आज कितनी वार क्रोध किया। क्यौं क्रोध किया और फिर दृढ निश्चय करना चाहिए कि कल ऐसा नहीं करूंगा। इसी प्रकार हम दुर्गुणों को हटाने और सद्गुणों के धारण करने में कृत कार्य हो सकते हैं। उपदेश को धारण करने का यही एक-मात्र उपाय है। श्रवण के बाद मनन करना चाहिये।

इस उपदेश को मैंने निम्न वेदमन्त्रसे ग्रहण किया है:—

— देवा इवामृतं रक्षमाणाः सायं प्रातः सौमनसो वो अस्तु।

अथ० ३।३०।७।

— "हे मनुष्यो! जैसे देवता अपने अमरपन की रक्षा करते हैं वैसे तुम सायं और प्रातः 'सौमनस' को प्राप्त हो।"

देवता न मरने वाले हैं। यही देवों का देवत्व है। हम उनके मुकाबिल में 'मर्ताः'—मरने वाले-हैं। जैसे कि देव अपने देवत्व अ-मृत-की रक्षा करते हैं, वैसे ही हमें सायं प्रातः "सौमनस" को रखना चाहिए। " का अर्थ है मनका अच्छा होना, अच्छा मनन। यह मनन ही मनुष्यका मनुष्यत्व है जैसे देवोंका देवत्व अमरपन

है। "**मननात् मनुष्यः**" मनुष्य इसी लिये कहाता है कि वह मनन करता है। यही उसकी पशुओंसे भिन्नता है। यदि वह अपना मनन करना विचार-करना-त्याग दे तो वह मनुष्य नहीं रहता। उसे सायं प्रातः विचार करते हुए अपने मनुष्यत्वको कायम रखना चाहिये। जो इस प्रकार सायं प्रातः अपना बिचार नहीं करता वह मनुष्यत्वसे गिर जाता है। इस प्रकार हमारे लिए एकान्त विचार का महत्व है।

जब मनुष्य अपने पर इस प्रकार विचार करता है, तब वह उस समय के लिए अपने अन्दर चला जाता है। यह अपने अन्दर जाना मुझे ऐसा प्रतीत होता है, जैसे कि एक किलेके अन्दर बैठ जाना। जिस प्रकार एक किले वाला लडाका योद्धा सदा लाभ में रहता है, उस ही तरह जो मनुष्य एकान्त में जाना जानता है, वह इस दुनियां की लडाई में कभी हारता नहीं। आप प्रातः किले में से निकलिये और दिनभर लडकर फिर शामको अपने किले में जाकर अपनी अवस्था देखिये-फिर दूसरे दिन तैयार होकर लडिए। दिन में भी जब कभी अपनेपर बहुत घाव लगे देखें, तो उस समय भी कुछ देर के लिये इस किले में चले आइये। यहां पर विचार रूपी वैद्य आपके सब घावों की मरहम पट्टी क्षण भरमें कर देगा। मुझे इस एकान्त विचारसे बहुत सुख मिला है, इस लिये मैं आग्रह करता हूं, कि अन्य भी इसका परीक्षण करें। मुझे तो यह निश्चय है कि मुझे घोर से घोर दुःख मिले, तो भी यदि मुझ, कुछ देरके

लिए एकान्त में होना मिल जाय, तो मेरा तीन चौथाई दुःख तो निश्चय से उस ही समय दूर हो जावेगा।

इस लिये दूसरा वेदोपदेश हमें यह ग्रहण करना चाहिये कि हम आज से दोनों समय-प्रातःकाल और सायंकाल-कुछ देर के लिये संसार को अपनेसे जुदा करके अपने पर विचार किया करें और उस समयमें जो कुछ उपदेश व ज्ञान हमें दिन भरमें मिला हो, उसको अपने जीवन से संबन्ध जोड लिया करें। इसी प्रकार हम उपदेश को ग्रहण कर सकेंगे, क्यों कि मन ही एक स्थान है जहा कि हम ज्ञानरत्न को लाकर रख सकते हैं। यदि हम ज्ञान धनी बनना चाहते हैं, तो हमारे पास धन रखनेके लिए स्थान होना चाहिये। इस धन के रखनेका कोष बनानेके लिए भगवानने हम सबको "हृदय" दिया है। अबतक हमने मूर्खतासे इसका उपयोग नहीं किया। अबसे जो कुछ हमें ज्ञान मिले, हमें चाहिये कि हम एकान्तमें जाकर मनन की क्रिया द्वारा उसे अपने इस दिव्यकोष (हृदय) में संभाल कर रखलिया करें। इसी प्रकार हमारी कमाई सुरक्षित हो सकती है। नहीं तो हम लोगोंमें कहावत प्रसिद्ध ही है 'एक कानसे सुना दूसरे कानसे निकाल दिया'। यदि ऐसी ही अवस्था है, तो हम ज्ञानरत्नको एक हाथ से उठाकर भी उसी समय दूसरे हाथ से उसे खो देंगे। इसलिये दूसरा आवश्यक कदम यह है कि हम धनको संभालकर रखना भी जान जांय।

पिछली बार हमने ज्ञानरत्नका उठाना सीखाथा, यदि आज हमने यह दूसरा उपदेश भी ग्रहण कर लिया है तो हम अब इन

रत्नोंको सुरक्षित रखना भी सीख जांयगें। अब और क्या चाहिये ? अब तो हम देखेंगे कि जहांतक हमने इन दोनों प्रारंभिक उपदेशों को सीख लिये है वहांतक हम दिनों दिन ज्ञानधनी होते जा रहे हैं। यह हम जरूर अनुभव करेंगे।

---

३ प्रातः उठना।

उद्यन्त्सूर्य इव सुप्तानां द्विषतां वर्च आददे। अथर्व० ७।१३।२

यदि मैंने और आपने पहला उपदेश " सं श्रुतेन गमेमहि " को ग्रहण कर लिया है और वेदकी दूसरी बात अर्थात् " एकान्त विचार " पर भी हम अमल करने लगे हैं, तब तो हम इस बातके लिये तैयार हैं, कि वेदाध्ययन से प्राप्त होने वाले अन्य उपदेशों को भी सुनें। नहीं तो हमारा इस लेखमाला को आगे बढाना वृथा है। अच्छा हो कि हम इसे न पढें, जबतक कि हम आधार के इन दोनों उपदेशों को हृदयंगत न करलें परन्तु यदि हमने इन्हें हृदयंगत कर लिया है तो ठीक है, तो हम अन्य उपदेशों को जरूर पढें। मुझे निश्चय है कि तब आप इन उपदेशोंसे लाभ भी जरूर उठायेंगे। ऐसे ऐसे उपदेश आप जैसे लाभ उठाने वालों के लाभ प्राप्त कराने के लिये ही वेदमें रक्खे हुवे हैं। यह आप निश्चय से मानिये।

यह तीसरा उपदेश मैंने जिस वेद वाक्य से ग्रहण किया है, वह इस प्रकारसे है ।

उद्यन्त्सूर्य इव सुप्तानां द्विषतां वर्च आददे। अथर्व० ७।१३।२

एक तेजस्वी पुरुष कहता है; जिस प्रकार उदय होता हुवा सूर्य सोने वालों के तेज को ले लेता है वैसेही मैं अपने प्रतिद्वन्द्वियों के तेज को ले लेता हूं।" हमें आज उस बातपर विचार करना है जो कि इस वाक्यमें उपमा द्वारा वेदने उपदिष्ट की है। यहां उपमामें यह बात मानी है, कि उदय होता हुआ सूर्य सोनेवाले के तेजको ले लेता है। यही इस वाक्यमें प्रगट किया हुआ सत्य है, जिसका कि ज्ञान हमें प्राप्त करना है। कई सज्जन कहा करते हैं कि लोग प्रायः अपनी मनकी बातें वेदमें से निकाल लेते हैं। परन्तु यहां जो बात कही गई है कम से कम मुझे वह पहले से ज्ञात नहीं थी। म अबभी नहीं जानता कि उदय होते हुवे सूर्य द्वारा कैसे सोनेवालों की तेज हरा जाता है। मैं केवल यह बात वेदमें लिखी देखता हूं और इसे मानता हूं। यदि वेद स्वतःप्रमाण हैं तो मुझे इस सत्य की सिद्धि के लिये या इस सत्यपर विश्वास लाने के लिये अन्य प्रमाणों की जरूरत नहीं होनी चाहिये। मुझे इतना ही वेद से ज्ञान कर लेना काफी है कि जो सूर्योदय होते हुवे भी सोया हुआ है उसका जरूर तेज नष्ट हो जाता है, तो फिर मैं प्रातःकाल सोता हुआ नहीं रह सकता, मुझे उस समय सोते हुवे डर लगेगा। जो भी कोई सूर्योदय प्रारम्भ होनेसे पहले नहीं जागजाता, उसे यह डरलगना चाहिये उसे भयभीत होना चाहिये कि मेरा तेज नष्ट हो जा रहा है। हरएक ऐसे

मनुष्यको जिसे अपने तेजसे कुछ प्रेम है, या तेजके महत्वको समझता है, अवश्य ऐसा भय उत्पन्न होगा। उसे अपने इस भयको दबाना नहीं चाहिये, किन्तु भयप्रेरित होकर सन्मार्गपर चलना चाहिये।

तेज क्या है ? क्या आप यह जानते हैं ? वेदमें वर्चस् शब्द है जिसका अर्थ मैं यहां तेज ऐसा कर रहा हूं। मेरी समझमें (वर्चः) तेज हममें वह शक्ति या गुण है, जिसके कारण कि हम सब प्रकारकी उन्नति वा अग्रगति करते हैं। तेज तत्व का स्वभाव ही आगे बढना है। इस अपने आगे बढने की शक्ति को—सब प्रकार की उन्नतिकी शक्ति को—हम खो रहे हैं, केवल प्रातःकाल न उठनेके थोडेसे आलस्यसे यह कितना आश्चर्य है।

प्रातःकाल का समय ऐसा है, जैसे कि मनुष्य की अवस्थामें बाल्यकाल। बाल्यकालमें जो भी संस्कार हम डालदें, वही हमारे सारे जीवनमें चला जायगा। जैसा प्रातःकाल होगा वैसा ही संपूर्ण दिन बीतेगा। जो प्रातःकाल को गंवाते हैं, वे अपने को उन्नत कराने वाली शक्ति को गंवाते हैं—वे अपने सुधार के लिये प्रति दिन आने वाले एक नये अवसर को गंवाते हैं, वे अपनी उन्नतिके बीज को ही नष्ट कर देते हैं। जरा सोचिये प्रातःकाल न उठना कितनी अनमोल वस्तु को खोना है।

एक स्थानपर सच लिखा है कि "ब्राह्मे मुहूर्ते में या निद्रा सा पुण्य-क्षय-कारिणी"। ब्राह्म मुहूर्त में सोना पुण्योंका क्षय करनेवाला होता है। रात्रिके अन्तिम मुहूर्त का—सूर्योदयसे पहले मुहूर्तका नाम ही 'ब्राह्म' है। यह ब्रह्मका परमेश्वर का मुहूर्त है। यह ऐसा

मुहूर्त है जब कि हम ब्रह्म के नजदीक होते हैं। इस समय सब लोगों के सो कर उठने के कारण बहुत देरतक का समय मनुष्यों-की वासनाओंसे अनाकुलित रहता है, मनकी निरुद्धावस्था रह चुकी होनेके कारण आत्मा अपने स्वरूपमें स्थित होता है। सारी प्रकृति शांत होती है, इस लिये यह समय ब्राह्म मुहूर्त कहलाता है। रोज आने वाले २४ घंटोंमें से यही एक समय ब्रह्मसे मिलाने-का स्मरण करानेवाला आता है। यदि हम इसे ही रोज गंवाते जांये तो हमारा पुण्य क्यों नाश न हो। हम पुण्य को खर्च करते जाते हैं, नया पुण्य नहीं कमाते, इस लिये पुण्य का नाश होता जाता है।

पुण्य ही नहीं, हमारे सब कुछ नाश होता है। अंग्रेजों की भाषा में एक कहावत है जिसका मतलब है कि "जल्दी सोना और जल्दी उठना मनुष्य को स्वस्थ धनवान और बुद्धिमान् बनाता है।" ऐसी कहावतें अन्य भाषाओं में भी होगी। ऐसी ऐसी कहावतें भी हमें इसी बडे सत्य की तरफ संकेत करती हैं। सुबह उठनेसे स्वस्थ होना समझमें आता है, क्यों कि उस समय उठना प्राकृत नियमोंके अनुसार है। नव जात बालक स्वयमेव प्रातः उठता है। पशुपक्षी आदि सब स्वभावतः प्रातः उठते हैं। इसके अतिरिक्त उस समय की वायुका शरीरपर विशेष प्राणप्रद असर होता है इसलिये प्रातः जागण स्वास्थ्यप्रद है। बुद्धिमान् होना भी प्रातःकाल उठ-नेसे समझमें आसक्ती है क्यों कि उस समय की शान्तिका प्रभाव हमारे मनपर पडता है। परन्तु प्रातः उठनेका धनवान् होनेसे सबन्ध कछ कठिन प्रतीत होता है। आप कह सक्के हैं कि बुद्धि

अच्छी होनेसे धनभी मिलेगा। परन्तु असलमें बात यह है कि ऐसे ऐसे सभी लाभ प्रातः उठनेके साथ जोडे जा सक्ते हैं और यह सब ठीक भी हैं। यदि प्रातः न उठनेसे तेज नष्ट होता है तो जरूर हमारी सभी उन्नति नष्ट होती है और यदि प्रातः उठनेसे तेज मिलता है तो सभी प्रकारकी उन्नति मिलती है। अर्थात् प्रातः उठनेके जो जो लाभ कहे जाते हैं उन सब बातोंकी संगति तभी लग सक्ती है जब कि वेदोक्त "तेजोनाश" की बात मान ली जावे।

प्रातः जागरणसे तेज की रक्षा होती है इस लिये शारीरिक आर्थिक, मानसिक, बौद्धिक आदि सभी प्रकारकी उन्नति इससे होती है।

इसीलिये दुनियाके जितने बडे पुरुष हुवे हैं जिन्होंने कि किसीभी दिशामें बडा काम किया है वे सब प्रातः उठनेवाले थे। ऋषि दयानन्द प्रातः उठते थे। महापुरुष नैपोलियन प्रातः उठता था। कुछ मास हुवे अंग्रेजी की प्रसिद्ध पत्रिका "Modern Review" में बहुतसे पाश्चात्य महा पुरुषोंके नाम छपे थे जो कि प्रातः उठनेके अभ्यासी थे। इस देशके सब पूज्य ऋषि मुनि प्रातः उठनेवाले थे यह तो यहां करनेकी ही जरूरत नहीं है। यद्यपि यह बहुत छोटीसी बात है परन्तु इसका कितना बडा भारी फल है। यदि हम इस छोटेसे गुणको भी धारण न कर इतने भारी लाभसे वञ्चित रहें तो हम कितने अभागे हैं।

जब आपने उपदेश ग्रहण करना सीखलिया है तो इस बातकी

शब्दोंमें अधिक व्याख्या करनेकी जरूरत नहीं। केवल यही ज्ञान काफी है कि मुझे अपने तेजकी रक्षा के लिये प्रातः उठना चाहिये और केवल यह उदाहरण काफी है कि स्वामी दयानन्द भी प्रातः उठते थे। बस अब से जब प्रातः उठनेमें आलस्य आवे, जी उठनेको न करे मन लेटे रहनेके लिये वहाने बनावे तो बार बार इस मंत्रको सोचिये। यह मंत्र आपको पुकार पुकार के कहे, **कि तेरा सब तेज नष्ट हो रहा है**। इस विचार से आप एकदम विनिद्र होकर उठ खडे होंगे आप लेटे रह ही नहीं सकेंगे। आप इस तरह जाग उठेंगे जैसे कि यह खबर पाकर कि आपके घरमें चोर चोरी कर रहे हैं, या आग लगाकर आपकी सब सम्पत्तिका नाश हो रही है आप सोते नहीं रह सकते। यह तेज धनदौलत की अपेक्षा बहुत ही कीमती चीज है। समझदार मनुष्य आगलग जानेसे या सर्व संपात्ति नष्ट हो जानेसे इतना दुःखी नहीं होगा जितना कि एक ही दिनके अपने तेजो नाशसे। क्या आज आप इस प्रातः जागरणरूपी ज्ञानरत्न को उठाले जांयेगे और अपने हृदयरूपी पेटकमें इसे सुरक्षित कर लेंगे।

---

(४) प्रलोभन को जीतना।

" हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्याऽपिहितं मुखम् "।

पिछले लेखमें हमने अपने एक छोटेसे कर्तव्य (प्रातः जागरण) पर विचार किया था। उसी प्रकार व्यायाम, युक्ताहार, संध्या, यज्ञ,

स्वाध्याय आदि हमारे बहुत से कर्तव्य हैं जिन्हें कि विना पालन किये हमारा कल्याण नहीं हो सकता है। हमें अपनी अवस्था और समय के अनुसार अपने कर्तव्योंका निश्चय करना चाहिये और फिर उसपर दृढ होना चाहिये। इन अपने कर्तव्यों, अपने धर्मोंका सेवन करनेसे ही एक आर्य " आर्य " है; एक मनुष्यशरीरधारी 'मनुष्य' हो सक्ता है, क्यों कि एक मात्र इन्हीं धर्मोंके अनुसार चलते हुवे ही हम अपने उद्देश्य को प्राप्त कर सक्ते हैं और सर्व प्रकारकी वास्तविक समृद्धि प्राप्त कर सफल जीवन हो सकते हैं।

इस लिये हम इस अति महत्व की बातपर विचार करेंगे कि हम अपने धर्मपर दृढ कैसे रहें—अपने धैर्यसे हमें विचालित कराने वाली कौनसी चीज है जिसे जान लेनेपर हम सहजतया धर्मसेवी बन सकते हैं—किस एक शत्रुपर विजय पालने से हम कर्तव्य से विचलित होनेका डर नहीं रहेगा। आशा है कि हम इस चौथे उपदेश को ग्रहण करनेके लिये सर्वथा उद्यत होंगे।

यजुर्वेदके चालीसवें अध्याय का यह प्रसिद्ध वाक्य है—

" हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम् "

" चमकते हुवे सोनेके ढकने से सत्य का मूंह ढका हुआ है " जो मनुष्य इसकी सचाई को हृदयमें कर लेते हैं वे सदा सन्मार्ग को ही चुनेत हैं। यह एक ऐसा सत्य है जो सर्व जगत् में फैला हुआ है। सब जगह सचाई चमकीले ढकनेसे ढकी हुई है इसीलिये मनुष्य उस चमक में फस जाता है, किन्तु उसे अलगकर सत्यपर नहीं पहुंच सकता। संसारमें सब कहीं यही आकर्षण व चमक

है जो कि हमें फसाती है—हमें प्रलोभित करती है। यह इन्द्रियों के सुख हैं, भोग हैं आराम है, धन दौलत है, यश है। परन्तु मनुष्यका असली मार्ग इससे बच करके जाता है। कठोपनिषद् में यह वर्णन है कि नचिकेता नामक जिज्ञासु मृत्युके पास गया। मृत्युके कहे तीन वरोंमें से उसने दो वर मांगे जो उसे आसानीसे मिल गये। फिर तीसरा वर उसने यह मांगा कि मुझे बताओ कि मरकर जीव का क्या होता है अथवा आत्मा है या नहीं। परन्तु मृत्युने उससे कहा कि इस विषयमें बडे बडे देवभी संशयित होते हैं, यह गंभीर बात है, इसे मत पूछो। उसने आग्रह किया। मृत्युने तब कहा कि तू हाथी, घोडे, रथ, दिव्य स्त्रियां, दीर्घजीवन, राज्य जो चाहे लेले, मैं तुरन्त दे दूंगा, पर इस प्रश्न को मत पूछ। परन्तु धीर नचिकेता ने देखा कि भोगोंसे तो केवल इन्द्रियोंका तेज जीर्ण होता है, दीर्घायु भी मैं ऐसी संशयित अवस्था में लेकर अधिक दुःखी ही होऊंगा—मुझे तो वह अवस्था चाहिये जो मरणरहित है। अन्तमें मृत्युको उसे उसका वर देना पडा। तब उसने कहा है कि दुनिया में दो मार्ग हैं, एक श्रेय मार्ग और एक प्रेय मार्ग। एक वह मार्ग है जो हमारे कल्याण का मार्ग है और एक वह मार्ग है जो हमें सुन्दर और प्रिय मार्ग और प्रतीत होता है। ये दोनों मार्ग सभी मनुष्योंके सामने आते हैं। अविवेकी पुरुष इनमें से खिचावट के मार्ग में चला जाता है परन्तु धीर पुरुष विवेकपूर्वक इस कल्याण के परन्तु कठिन मार्ग को चुनता है। जो मनुष्य प्रलोभन के आने-पर उसमें नहीं फसता वही धीर है। यह अवस्था हरएक मनुष्यके

सन्मुख प्रतिदिन आया करती है। एक तरफ आनन्द होता है, एक तरफ कठिनता; एक तरफ प्रलोभन होता है, एक तरफ अपना कर्तव्य। उस समय वे ही मनुष्य सन्मार्ग को ग्रहण कर सकते हैं जिनके मनने बार बार मनन करके इस वेदके उपदेशको ग्रहण किया है।

" हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।

संसार में सब जगह यह धोखा भरा हुआ है। सत्य आडमें छिपा बैठा है। जो इस धोखेमें नहीं आते वे ही धन्य हैं। परन्तु क्या हममें से अधिकांश ऐसे नहीं हैं; जो इन्द्रियों की खिंचावट में फंस जाते हैं; और संयम के श्रेष्ठ मार्ग को छोड देते हैं। भोग में फंस जाते हैं; ब्रह्मचर्य को छोड देते हैं। धनमें फंस जाते हैं, धर्मको छोड देते हैं। जो इन छोटे प्रलोभनों को जीत भी लेते हैं वे फिर मान में फंस जाते हैं और सत्यको छोड देते हैं। यह इसी लिये कि हमने इस वेदोपदेश को ग्रहण करके विवेक की आदत नहीं बनाई है। हरएक आर्य समाज के सभ्यको अपने आर्य कर्तव्यको पालन करने के लिये यह ज्ञान ग्रहण करना चाहिये। यदि हमने अपने जीवनपर विचार करनेका समय बना लिया है तो दिन भर की ऐसी अवस्थाओंको गिनना चाहिये जब जब प्रलोभन और कर्तव्यका मुकाबिला हुआ हो, और सायंकाल के समय यह देखना चाहिये कि मैं कब कब प्रलोभन में फंसा और क्यों फसा इत्यादि। और फिर प्रातःकाल परमात्मा से बल मांगकर अगले दिन में प्रविष्ट होना चाहिये और दृढ निश्चय करना चाहिये कि आज सब प्रलो-

मनोंको जरूर परास्त करूंगा। इस बिधिसे धीरे धीरे आप का वह अभ्यास हो जायगा। श्रेय और प्रेय दोनों वस्तुओंके आते ही आप शीघ्र ही श्रेयको ग्रहण कर लिया करेंगे। प्रत्येक आर्यको धर्मारूढ बनने के लिये यह अभ्यास प्राप्त करना चाहिये।

हमारे आचार्य दयानन्द को पूर्वजन्म से ही वह विवेक बुद्धि प्राप्त थी। उन्होंने मृत्यु के सवाल को हल करनेके लिये घर छोडा, जायदाद छोडी, गृहस्थ छोडा और सत्यकी तलाशमें जगह जगह धक्के खाना, जंगलोंमें कांटोंसे लोहूलुहान होकर फिरना, नाना कष्ट सहना इस सबको स्वीकार किया। विद्या प्राप्त करनेके बाद भी यदि वे चाहते तो कहीं सुखसे बैठ सकते थे, परन्तु वे हिरणमय पात्र की फंसावट से दूर हो चुके थे इस लिये लोगोंके ईंट पत्थर उन्होंने सहे, गालियां सहीं, जहर खाना भी सहा, परन्तु सत्य प्रचारको नहीं छोडा। एक राजाने उनसे कहा कि आप मूर्तिपूजा का खण्डन छोड दीजिये और यह सब राज्य आपका ही है। शायद हमें यह बडा आसान–सुगम–प्रतीत होता होगा कि वे कह देते "मूर्तिपूजा अच्छी है"। परन्तु उन्होंने सत्यको देखा हुआथा, वे स्वप्नमें भी इस फंसावट में नहीं फंस सके थे। हम में से कितने होंगे जिन्हें यदि कहा जाय कि तुम्हें हजार रुपये देंगे तुम इतना झूठ बोल दो, तो वे झूठ नहीं बोल सकेंगे। केवल दस रुपये दिये जाने पर भी अपनी मातृभूमि के विरुद्ध लडनेके लिये हम में से हजारों तैयार हो जाते हैं। ऐसे कितने पुरुष हैं जो सस्ता होनेके कारण आज भी विदेशी कपडा ले सकते हैं दो एक रुपयों का ही प्रलोभन

उन्हें फंसा लेनेके लिये काफी है। ऐसे भी लोग हैं जो क्यों कि खद्दर मोटा होता है और अच्छा नहीं लगता केवल इसीलिये स्वदेशी धर्मको त्याग सकते हैं। इसी प्रकार हम अपनी थोडीसी सहूलियत के लिये भी अपने कर्तव्य और धर्म का बलिदान कर डालते हैं। यह हमारी कितनी गिरी हुई अवस्था है। हमें वेद की शरण जाकर हिरण्य की चमकसे बचना चाहिये, तभी कल्याण होगा। क्या यह वेदोपदेश हमें उठाकर सच्चा आर्य नहीं बना सकेगा।

ऋषि दयानंद का इस संसार में आकर जो महान् कार्य हुआ है उसे एक शब्दमें हम यों कह सकता है कि उन्होंने प्रेय मार्ग में बहे जाते हुवे लोगों को खडे होकर श्रेय मार्गका अवलम्बन करना बतलाया। जब वे उत्पन्न हुवे उस समय इस देशमें पश्चिमी सभ्यता जोरोंपर बह रही थी—सभी लोग इसकी चमक दमक में फंसकर बहे जा रहे थे——इस देशकी पुरानी तपोमय वैदिक सभ्यता नष्टप्राय थी। तब ऋषिने आकर अपने ब्रह्मचर्यके तपसे इस लहर को रोका। यह कितना कठिन काम था। यह ब्रह्मचारी ही कर सकता था। जब संसार की आंखें खुलेंगी तब दुनिया यह समझैगी कि हम दयानन्द के कितने ऋणी हैं। पश्चिमी सभ्यता का सारांश है भोग विलास। और हमारी सभ्यता है संयम और सरलता। इस लिये आर्य समाजका उद्देश संसार को प्रेय मार्गसे हटाकर श्रेय मार्गपर लानाही है। परन्तु यदि आर्य लोगभी सत्यको छोड चमक दमकमें फसनेवाले हों तो कितने दुःखकी बात है। तो आज हमें

दयानन्दका स्मरण करके अपने में यह व्रत लेना चाहिये कि हम श्रेय मार्गपर ही चलेंगे उसमें चाहे कितने दुःख क्यों न हों। तभी हम अपना कल्याणकर सकेंगे और आर्य समाज द्वारा जगत् का कल्याण भी तभी कर सकेंगे।

निस्सन्देह संसार में धोखा है परन्तु इससे बचनेकी कुञ्जी यही है— "हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।" संसार में जितनी कल्याण की चीजें हैं वे बुरी मालूम होती हैं और हमारे नाशकारी वस्तु सुन्दर और प्रिय दिखाई देती है। परन्तु कडवी औषधिही हितकारी होती है और जिह्वा को आनन्द देनेवाले भोजन स्वास्थ्यका नाश करते हैं। सांप जैसे सुन्दर चमकते प्राणीके अन्दर जहर की थैली रखी होती है और फूलोंमें कांटे होते हैं; यह बात हमें याद रखनी चाहिये। भोग अन्तमें विषकी तरह घातक होते हैं यह आजसे हरएक आर्य को ज्ञान ग्रहण कर लेना चाहिये। आराम जरूर प्रिय मालुम होता है परन्तु फल हमेशा परिश्रम करनेसे ही प्राप्त होता है। संयम के कठोर छिलके के अन्दर ही हमारे लिये अमृतमय फल रक्खा हुआ है। जो हमारे हितकारी मनुष्य हैं वे आकर्षक नहीं है! उनकी नसीहतें हमें कडवी मालुम होती होगी। परन्तु हित वहीं है। इसके विपरीत ठग लोग बडे रोचक होते हैं, मधुर वाणी बोलते हैं पर वे हमारा सब धन हरलेते हैं। इस प्रकार कई प्रकारसे यह जगत् प्रलोभक है। हमें सन्मार्ग से हटानेके लिये इसमें बहुतसे फांस हैं, हमें इसी वेद वाक्य का अवलम्बन कर इस संसारसे तरना है। प्रलोभन को छोडते हुवे कर्तव्य पर ही लगन

लगाये रखनी है। हमारी बुद्धि ही ऐसी हो जानी चाहिये कि हमें अकर्तव्य कभी प्रलोभित न कर सके बल्कि जितनी प्रीति अविवेकी पुरुष की खिंचावट के अन्दर होती है उससे भी अधिक आसक्ति हमारी कर्तव्य में—धर्ममें हो जाय। तब हम इस सौंदर्यको देख सकेंगे कि किस प्रकार हमारा परम कल्याणकारी करुणासागर भगवान् हमें बिल्कुल प्रलोभित न करता हुआ छिपा हुआ बैठा है। मानो वह है ही नहीं, किन्तु यह प्रकृति चमक दमक कर हमारी आंखोंमें इतनी तीव्रता से प्रविष्ट हो रही है कि मानो यही सब कुछ है और कुछ है ही नहीं। इस वेद वाक्य का अन्तिम अर्थ इस प्रकृतिके ढकने को हटाकर अन्दर छिपे हुवे सत्य स्वरूप परमात्माको प्राप्त करने से है। यह भगवान्ही हमें ऐसा बल दे कि हम इस ढकनको हटाकर उसके सत्य स्वरूपको देख सकें।

---

(५) वीर्य रक्षा।

ब्रह्मचारी समिधा मेखलया श्रमेण लोकांस्तपसा पिपर्ति।

हम अब प्रलोभन को जीतना सीख चुके हैं। इसके कारण हममें बहुत बल प्राप्त हुआ होगा। आइये, इस नये बलको प्राप्त करके अब की वार ब्रह्मचर्य के महान् गुण को अपने में धारण करनेका यत्न करें। ऋषि दयानन्द के जीवनसे हमें ब्रह्मचर्यकी ही सबसे बडी शिक्षा मिलती है। ऋषि दयानन्दमें ब्रह्मचर्यकी महिमा ऐसी

प्रगट हुई है कि उनकी ब्रह्मचर्य शक्ति ही उन्हें और अन्य सब सुधारकों से जुदा करती है। ब्रह्मचर्यका अर्थ है वीर्यरक्षा। ब्रह्मचर्यका असली अर्थ इससे अधिक विस्तृत है, परंतु हम अभी इसका वीर्यरक्षा ऐसा ही मुख्य अर्थ लेकर आगे चलेंगे। वीर्य रक्षण करना ही काफी कठिन काम है, परंतु इसका महत्व और लाभ भी उतनाही अधिक है। वीर्य वह वस्तु है जो कि सम्पूर्ण शरीर का सारांश है, तेजस्सार है। वीर्यके एक कणमें बहुत से जीवनों को उत्पन्न करनेकी शक्ति है। तब आप कल्पना कर सकते हैं कि वीर्य कितना जीवन का भंडार है। यदि यह शरीरमें रक्षित किया जावे जो हममें कितनी जीवनशक्ति संचित हो सकती है। स्वामी दयानन्दने जगत्में आकर जो इतना महान् कार्य किया, भारी अज्ञानको हटाया, बहुतसे जीवनोंको पलडा, सत्यका डंका बजाया और अपने जमानेको हा बदलदिया-इनका यदि कोई भौतिक कारण ढूंढा जाय तो वह उनके शरीर में रक्षित किया हुआ वीर्य था। क्या हम आर्यसमाजियों का यह इच्छा नहीं पैदा होती कि हम भी वीर्य रक्षा करें—नष्ट होती हुई इतनी ईश्वर प्रदत्त शक्तिको रक्षित करें। जिसको वह इच्छा पैदा होती होगी वह तो अपनी इस वीर्य की अनमोल संपत्ति की रक्षा करनेके लिये बिकटसे बिकट यत्न और सब प्रकारका परिश्रम करनेके लिये अवश्य एकदम उद्यत होगा। आप पूछेंगे हम वीर्य की रक्षा कैसे करें, यह बडा कठिन काम है। बेशक यह कठिन काम है, परन्तु इसके उपाय भी जरूर हैं। और जिस सौभाग्यशाली पुरुषको वीर्य रक्षण की उत्कट इच्छा हुई है वह उन

उपायोंको जरूर कहीं न कहीं से प्राप्त भी कर लेगा। वीर्यरक्षण की इच्छा रखने वालों को चिन्ता की कोई जरूरत नहीं है। विशेष कर जब कि उसने प्रलोभनों को जीतनेका अभ्यास कर लिया है। वीर्य रक्षाके लिये आहार, विहार, व्यायाम आदि कैसा होना चाहिये और मनो अवस्था कैसी रखनी चाहिये इत्यादि विषयको हम इस लेखमें नहीं देख सकेंगे। इन बातों के संबन्धमें पाठकगण ब्रह्मचर्य विषयपर विस्तृत लिखी हुई पुस्तकोंका स्वाध्याय करके अवश्य लाभ उठावे। परन्तु यहां ब्रह्मचर्य के उस एक साधन का हम विचार करेंगे जो कि मेरी समझमें मौलिक साधन है। यह साधन स्वाभाविक है और अतएव प्रबल है। अर्थात् इस साधन के प्राप्त हो जाने पर स्वभावतः वीर्यरक्षा होती है और अवश्य होती है। और मैं यह भी कह देना चाहता हूं, कि इस साधनसे सम्पन्न होने के कारण ही स्वामी दयानन्द अखण्ड ब्रह्मचारी रहे थे। यह साधन एक वाक्यमें यह है—**वीर्य को किसी शक्तिके रूपमें परिणत करना।** विना ऐसा किये वीर्य का संभालना कठिन है। जबतक हम वीर्य को शक्तिके रूपमें नहीं ले आते तबतक वीर्य के नाश होनेकी पूरी सम्भावना रहती है। इसलिये वीर्य का वीर्य के रूपमें न पडा रखकर उसको शक्ति बना देना ही वीर्य रक्षाका मौलिक उपाय है। वीर्य को शक्तिके रूपमें किन उपायोंसे परिणत करें यही विचार हम इस महिने के वद मन्त्र द्वारा यहांपर करेंगे। अथर्व वेदमें प्रसिद्ध ब्रह्मचर्य सूक्त है। उसमें ब्रह्मचर्य के विषयमें बडे बडे उत्तम उपदेश हैं परन्तु उस सूक्तमें से मैं एक मन्त्र के उत्तरार्ध को ही उपस्थित

करता हूं। उससे ही उपदेश ग्रहण करना हमारे लिये बहुत पर्याप्त होगा। वह मन्त्र यह है—

ब्रह्मचारी समिधा मेखलया श्रमेण लोकांस्तपसा पिपर्ति।

इस मंत्र में कहा है "ब्रह्मचारी लोकान् पिपर्ति" ब्रह्मचारी लोगोंको पूर्ण करता है और पालित करता है। कैसे? "समिधा, मेखलया, श्रमेण, तपसा" समिधासे, मेखलासे, श्रमसे, तपसे इन चार साधनोंसे।

यह चारों वीर्य रक्षा के भी साधन हैं, क्यों कि यह चारों ही वीर्य को शक्ति के रूपमें परिणत करनेके उपाय हैं। इनमें से पहिला उपाय है समिध्। समिध् का अर्थ है अच्छी प्रकारसे दीप्त होना। सं+इन्ध। हवन की लकडियों को भी समिध् इसीलिये कहते हैं क्यों कि वह दीप्त होती ह। आर्यों में पुरानी प्रथा के अनुसार शिष्य गुरुके पास समिधा लेकर जाता था। उनका मतलब यह था कि मानो गुरु अग्निरूप है और शिष्य अपने आपको समिधा बनाता है और इच्छा करता है कि मुझे आप इसीतरह दीप्त कर दो जैसे कि अग्निमें समिधा डालनेसे वह समिधा भी अग्निवत् दीप्त हो जाती है। इस प्रकारसे यदि आप विचारेंगे तो आप समझ जांयगे कि यहांपर समिध् का अर्थ '**अपने आपको ज्ञानाग्निसे दीप्त करना** है'। अपने को ज्ञानसे दीप्त करनेसे हमारा वीर्य ज्ञानके बनाने में खर्च होगा और इस प्रकार वीर्य रक्षा होगी। इस "समिध्" की बात को यदि आप पूरीतरह समझना चाहें तो आप अपने सामने दीपक का दृश्य लाइये। स्वामी रामतीर्थ जीने अपने

प्रसिद्ध "ब्रह्मचर्य" की व्याख्यान में यह बडी उत्तम उपमा दी है। यह उपमा मुझे तबसे याद रहती है। दीपक आपमेंसे हरेकके घरमें जलता है। उस में तेल होता है, बत्ती होती है, और ऊपर से वह जलता है। तेल बत्ती द्वारा ऊपर चढता है और ऊपर जलता है—प्रकाशित होता है। अर्थात् तेल ऊपर चढकर प्रकाश के रूपमें परिणत हो जाता है—प्रकाश बन जाता है। आप समझ गये होंगे कि तेलके स्थान में हमारे शरीरमें वीर्य है। यदि हम अपने आप को ऊपरसे जलादें अपने आप को दीप्त करलें, तो हमारा वीर्य भी ऊपर चढकर ज्ञान बनने खर्च हुआ करेगा। हमारे सिर में पांचों ज्ञानेन्द्रियां हैं। वहीं ज्ञान का केन्द्र दिमाग है। लोकों के हिसाब से सिर हमारा द्युलोक है। इसी सिरको हम ने दीप्त करना है, जलाना है। इस की दीप्ति ज्ञान से होती है। जब हमारा सिर ज्ञान से जलने लगेगा तब हमारा वीर्य स्वयमेव ही वहां चढेगा और ज्ञानरूप प्रकाश में परिणत हुआ करेगा। इस प्रसङ्ग में पाठक ऊर्ध्व रेता होने का भाव भी समझ गए होंगे। जो योगी महात्मा होते हैं उन का शिर इसी कारण द्युलोक की तरह देदीप्यमान होता है। वे शिरमें प्राण भरकर समाधि करते हैं और "ऋतम्भरा" जैसी अत्युच्च ज्ञानप्रकाश की अवस्था को प्राप्त करते हैं, अत एव उनका सर्व वीर्य ऊर्ध्वगामी होकर ज्ञानप्रकाश का इन्धन बनता रहता है। हम साधारण पुरुष यदि समाधि नहीं प्राप्त कर सकते तो हमें अन्य प्रकार से मस्तिष्क को कार्य देना चाहिये, खूब मनन करना चाहिये, गम्भीर, गम्भीर

विचार करना चाहिये, मस्तिष्क से खूब काम लेना चाहिये, इस प्रकार से हमारा वीर्य भी बहुत कुछ ज्ञानाग्निका इन्धन बन सकता है और वीर्यरक्षा हो सकती है। हमें यह याद रखना चाहिये कि हरएक वस्तु की तरह वीर्य की भी दो गति हो सकती हैं, एक उर्ध्वगति और दूसरी अधोगति। जब लोक वीर्य जैसी परम पवित्र और जीवन भण्डार वस्तु की अपने अन्दर अधोगति करते हैं, उन की अधोगति ही होनी है। और जो मनुष्य इस की ऊर्ध्व गति करते हैं वे स्वभावतः ऊर्ध्वगति, उन्नति को प्राप्त होते जाते हैं, जितनी मात्रा में ऊर्ध्वगति करते हैं उतनी ही मात्रा में उन्नति को प्राप्त होते हैं। अतः अपने को ज्ञान से दीप्त कर पूरे यत्न से जहां तक हो सके वहां तक हमें वीर्य उर्ध्वगति ही प्राप्त करनी चाहिये। इस प्रकार 'समिधा' द्वारा हम मूलतया वीर्यरक्षा करते हैं। यह पहला उपाय हमें वेदने दर्शाया है।

दूसरा उपाय है मेखला। मेखला को हिन्दी में तडागी या तगडी कहते हैं। स्मृति ग्रन्थों के अनुसार ब्रह्मचारी के लिये कटिप्रदेश में मेखला बान्धने का विधान है। इसका वास्तविक प्रयोजन क्या है—यह मैं ठीक नहीं जानता। ऐसा सुना जाता है, कि यह वीर्य-रक्षा में सहायक होती है और कई अण्डकोषों के रोगों के लिये रक्षक का काम देती है। परन्तु इस से एक और भाव समझ में आता है—यह है कटिबद्धता का भाव। ब्रह्मचारी को कटिबद्ध रहना चाहिये, हमेशा तैय्यार, हमेशा चुस्त रहना चाहिये। न जाने कर्तव्य किसी समय क्या आज्ञा देवे। जैसे कि युद्धका सिपाही हमेशा

चुस्त और चौकन्ना रहता है कि न जाने अभी क्या करना पडे सी तरह ब्रह्मचारी को सदा कर्तव्यके लिये तैय्यार, कमर कसे हुए रहना चाहिये। उसे हमेशा जागृत रहना चाहिये, सोते हुए भी जागृत रहना चाहिये; कभी भी प्रमादी—आलस्ययुक्त नहीं रहना चाहिये। कटि बद्धता से उल्टा है आलस्य ढीलापन जब मनुष्य आलसी होता है, ढीला पडा रहता है तब उस के वीर्यनाश होने की सदा सम्भावना रहती है। सोते हुए का ही वीर्यनाश होता है। इससे विपरीत जब मनुष्य सदा कर्तव्योन्मुख होकर चुस्त रहता है, तब इस कार्य में जो शक्ति खर्च होती है उसे शरीरस्थ वीर्य पूरा करता रहता है। अर्थात् वीर्य इस शक्तिमें परिणत होता रहता है। यह वीर्यरक्षा का दूसरा साधन है। वीर्य की शक्तिमें परिणति का प्रारम्भ में विवेचन अच्छी तरह हो चुका है। इस लिये अब इन उपायों की विस्तृत व्याख्या की जरूरत नहीं। तीसरा साधन है श्रम, परिश्रम, मेहनत! यह साफ बात है। श्रम करने से वीर्यरक्षा होती है और श्रम से विपरीत **आराम—तलबी** से—आराम की इच्छासे वीर्य नाश होता है। अतःब्रह्मचर्य की इच्छा करने वालों को सदा श्रम करना चाहिये। शारीरिक श्रम-व्यायाम से वीर्य रुधिरमें संमिश्रित होता है। एवं अन्य मेहनत के कार्य करने से भी वीर्य शक्ति के रूप में खर्च होता है। अतःहमें श्रम के जीवन को बडी खुशीसे अपनाना चाहिये।

इस के बाद चौथा तप का साधन आता है। यह एक प्रकारसे सबसे मुख्य है। ब्रह्मचर्यसूक्तमें तप का बार बार वर्णन आता है।

द्वन्द्वोंके सहने को तप कहते हैं। अपने कर्तव्यमार्ग में जो कष्ट आवें उन्हें सहना तप है। यह ब्रह्मचारी को निरन्तर करना चाहिये। गर्मी सर्दी सहनेका, भूख प्यास सहने का उसे अभ्यास होना चाहिये इसी प्रकार और नाना तरह के द्वन्द्व हैं जिन्हें कि मनुष्य जितना सहने वाला होगा उतना ही वह वीर्यरक्षक होगा। उदाहरणार्थ हम शीतोष्ण को सहें—शीत को कपडे द्वारा सहना छोडकर धीरे धीरे यह अभ्यास करें कि अपने वीर्य से बनने वाली शरीरस्थ सहन शक्ति के द्वारा ही शीत को सह सकें, और गर्मी को भी बाह्य उपकरणोंसे न सह कर इसी सहन शक्ति से सहने का अभ्यास करें तो हमारी वीर्यरक्षा होगी। वीर्य का इस प्रकार बहुत उत्तम सद्व्यय होगा। आशा है पाठकगण यहां तक के विवेचन से इन चारों उपायों का वीर्यरक्षामें साधनत्व भली प्रकारसे समझ गए होंगे।

शायद कोई पूछता है, कि हम तप श्रम आदि कठिन साधनोंसे वीर्यरक्षा ही क्यों करें? मैं इस प्रश्नका अर्थ समझता हूं। यह प्रश्न ठीक है। विना किसी लक्ष्य के वीर्यरक्षा भी नहीं की जा सकती है। जिसके सामने कोई लक्ष्य ही नहीं है वह किस लिये करे? इस लिये सब से बडी बात तो यह है कि हमारा कुछ लक्ष्य होना चाहिये। इस अन्त्रमें वह लक्ष्य "लोकों का पालन पूरण" कहा है। असल में प्रत्येक मनुष्यका लक्ष्य अपने लोकों को पूर्ण करना और लोकसंग्रह करना ही है, जिसके कि लिये उस ब्रह्मचर्य करना चाहिये। परन्तु सामान्यतया कुछ न कुछ लक्ष्य होना भी

पर्याप्त है । जिस ने अपने जीवन का कुछ थोडा सा भी लक्ष्य बना रक्खा है वह उसी लक्ष्य के लिये ज्ञान दीप्ति प्राप्त करेगा, उस के लिये सदा कटिबद्ध रहेगा, सदा श्रम करेगा और तप करेगा अतः वीर्यरक्षा को भी प्राप्त करेगा । कि जिसका जितना भारी लक्ष्य होगा उसके लिये वीर्यरक्षा करना उतना ही आसान होगा । ऋषि दयानन्द तो एक महान् लक्ष्य लेकर दुनिया में प्रविष्ट हुए थे । वे वस्तुतः लोगों का पालन और पूरण करने के ही लिये जन्मे थे । उन्हें विषयों की तरफ देखने के लिये भी फुरसत कहां थी । इस लिये उन्होंने अपने को ज्ञानसे संदीप्त किया और सारी आयुभर कर्तव्य के लिये कटिबद्ध रहे वे सारा जीवन भर श्रम करते रहे और उन्होंनें बालकपनसे जितना तप कष्ट सहन, किया उतना दुनिया में विरले लोग ही करते हैं । इसी लिये वे अखण्ड ब्रह्मचारी रहे ।

आप पूछेंगे कि हम क्या करें ? हम तो दयानन्द जैसे महापुरुष नहीं हैं, हम तो दुनिया में कोई सन्देश लेकर नहीं आये । मैं कहूंगा कि आप दयानन्द के शिष्य हैं । यही पर्याप्त है । हरएक आर्यसमाजी यह गर्व कर सकता है कि मैं आदित्य ब्रह्मचारी दयानन्दजीका शिष्य हुं । दयानन्द हमारे लिये अखण्ड ब्रह्मचारी रहे । आर्यसमाजही उनका पुत्र कहा जा सकता है । यदि हम अपने को दयानन्द का पुत्र न मानकर केवल अपने को दयानन्दका अनुयायी मानें तो भी हम भारी ऋषि-ऋण का बोझ अपने कन्धों पर अनुभव करेंगे । क्या इस ऋण से मुक्त होना हमारा कार्य नहीं है ? क्या यह छोटा लक्ष्य है ? क्या इसके लिये ब्रह्मचर्य की

जरूरत नहीं है। आप में से बहुतसे सज्जन प्रायः गृहस्थाश्रम में होंगे इस लिये वैदिक रीतिके अनुसार सन्तान उत्पन्न करना बेशक आपका कर्तव्य है। परन्तु इस पितृऋण को उतारने के आतिरिक्त और किसी कार्य में अपने वीर्य का व्यय करना अपने गुरु को कलंकित करना है। आप को ऋषिऋण उतारने के लिये गृहस्थधर्म करते हुए भी ब्रह्मचारी रहना चाहिये। क्या आप प्रण करेंगे कि हम दयानन्द के अनुयायी ऋतुगामी होने के सिवाय सदा वैदिकधर्म के लिये ब्रह्मचारी रहेंगे। आइये आज हम ऋषि दयानन्द की ब्रह्मचर्यमयी दमकती हुई गुरुमूर्ति को अपने मन में अच्छी तरह से बिठला कर उस के सामने प्रतिज्ञा करें कि 'मैं आपका शिष्य ब्रह्मचारी रहूंगा' उन की ब्रह्मचर्य मयी मानस मूर्तिका बार बार ध्यान करके इसे अपने में यहां तक समादे कि जब कभी हमारे सामने इस प्रतिज्ञा के तोडने का प्रलोभन आवे-पाशविक भोग में फसने का जोरदार प्रलोभन आवे-तो उससे भी सहस्र गुना तीव्रता से हमारे सामने हमारे गुरुकी यह मूर्ति आ खडी हो और वह आकर हम को मना करे, उन की मन्युभरी हुई आखें हमारी तरफ घूरती हुई हमें दिखाई दें और हमें यह गम्भीर आवाज सुनाई दे कि इस वीर्य पर तुम्हारा अधिकार नहीं है इसपर वैदिक धर्म का अधिकार है। इस लिये मैं कहता हूं कि यदि आप दयानन्द नहीं हैं तो ब्रह्मचारी दयानन्द के शिष्य तो हैं पुनः संस्थापक गुरु के अनुयायी वैदिक धर्मके तो हैं। यह अनुभव आपको ऐसी स्फूर्ति देगा जिससे कि आपको वीर्यरक्षा करना बहुत आसान हो जायगा और वीर्यनाश करना असम्भव हो जाएगा।

इसमें तो कुछ सन्देह नहीं है कि आर्य समाज के समासद पितृ ऋण के उतारने के कर्तव्यको छोडकर सदा ब्रह्मचारी रहे तो आर्य समाज में जो आज शक्ति है उस से हजार गुना शक्ति इसमें आ-जायगी। इस बात में मुझे तनिक भी सन्देह नहीं है।

---

(६) त्याग।

कृषन्नित्फाल आशितं कृणोति यन्नध्वानम पवृंक्ते चरित्रैः।
वदन्ब्रह्मावदतो वनीयान्पृणन्नापिरपृणन्ततमाभि ष्यात्॥
१०।११।७।७

इस मास मैं आप के सामने त्याग या दान के विषय पर कुछ विचार प्रस्तुत करना चाहता हूं। दान के विषय में वेदमें बहुत जगह बहुत कुछ लिखा है। पुराने समय से अबतक सब लोक दान और त्याग की महिमा करते आए हैं। पर प्रश्न यह है कि हम दान क्यों करें दान करने से तो हमारी हानि होती है—घटती होती हैं। मैं ने इस महिने वेद से यही उपदेश ग्रहण किया है कि हमें अपनीही भलाई केलिये त्याग करना अवश्यक है। इसी बात का इस लेख में विस्तार पूर्वक वर्णन करना हैं। दान के विषय में वेद में वैसे तो और भी बहुत से उत्तम उत्तम वचन हैं, परन्तु मैं ऋग्वेद के प्रसिद्ध दान सूक्त में से केवल एक मन्त्रार्थ को ही आप के सामने रखता हूं—

कृषन्नित्फाल आशितं कृणोति यन्नध्वानमपवृंक्ते चरित्रैः—

ऋ. १०।११७।७

—" खेती करता हुआ ही फाल (हल का अग्रभाग) अपने आप को सुतीक्ष्ण बनाता है और मार्गपर चलता हुआ मनुष्य अपने चलने द्वारा त्याग करता जाता है। " इस वेदवचन में हमें दान क्यों करना चाहिए यह बात दो उपमाओं द्वारा समझाई गई है। यदि हम इन उपमाओं को समझ लें तो हम सब दान का माहात्म्य समझ लेंगे। पहले कहा है कि हल से यदि कर्षण किया जाता रहे तो वह तीक्ष्ण हो जाता है अर्थात् वह और अधिक कृषिके योग्य हो जाता है। इस के विपरीत यदि वह पडा रहे तो जङ्ग लग कर वह भूमि के विलेखन के योग्य नहीं रहता। इसी प्रकार दान करने से मनुष्यका मनुष्यत्व बढता है मनुष्य अपने कार्य करने के लिये अधिक योग्य हो जाता है। हल चलनेसे घिसता है—अपना कुछ अंश त्याग करता है, इस लिये तीक्ष्ण होता है अर्थात् जिस कार्य के लिये वह बनाया उसमें समर्थ रहता है। इस के विपरीत जङ्ग लग जाने से भार में तो वह फल जरूर बढ जाता है परंतु अपने कार्य में योग्य नहीं रहता। इसी प्रकार मनुष्य दान न देनेसे बेशक अधिक वस्तु ओं वाला होता है, परन्तु उस अधिक सामान का बोझ ही उसे उस कार्य के योग्य नहीं रहने देता, जिस कार्य के लिये कि उसे दुनिया में पैदा किया है। उस पर रुपये का जङ्ग लग जाता है इस लिये वह अपने कर्तव्यमें तीक्ष्ण नहीं रहता। वह तीक्ष्णता कायम रखने के लिये त्याग करना परम आवश्यक है।

दूसरा उदाहरण त्याग के विषय को और भी अधिक साफ कर देता है। उस में यह बताया गया है, कि मनुष्य को चलने के लिये त्याग करना पडता है। इस त्याग के कारण ही वह आगे पहुंचता है। जैसे कि यदि मैं ने यहां से अपने घर जाना है तो मैं एक कदम आगे रखूंगा। इससे मुझे एक कदम आगे का स्थान प्राप्त हो जाएगा। परन्तु यदि मैं अब यह कहूं कि यह तो मेरा स्थान हो गया है उसे मैं नहीं छोडूंगा, तो मैं दूसरा कदम नहीं बढा सकता और कभी भी अपने घर पर-लक्ष्य पर नहीं पहुंच सकता। अगला कदम बढाने के लिये पिछले कदम से प्राप्त हुए स्थान का छोडना जरूरी है। इस लिये वेदने कहा है, कि मार्ग पर चलता हुआ मनुष्य त्याग करता जाता है। जब हम अपनी उन्नति की एक अवस्था को पहुंच जाते हैं, तब उससे अगली ऊंची अवस्था में पहुंचने के लिये पहली अवस्था की सब कमाई को स्वाहा कर देना पडता है-हवन कर देना पडता है। हवन उस त्याग का नाम है जो कि हमें उस से श्रेष्ठ वस्तु बदले में देता है। हवन शब्द "हु दानादानयोः" धातु से बना है। इसका दान (देना) और आदान (लेना) दोनों परस्पर विरुद्ध हैं। परन्तु ये बडे सार्थक हैं। इस का अर्थ होता है "दान करना आदान के लिये।" जब हम किसी वस्तु को त्याग करते हैं इस लिये कि उस से अधिक उत्तम वस्तु हमें मिले तब हवन करते हैं। अर्थशास्त्र की भाषामें इसे कहें तो "**विना दाम कोई वस्तु नहीं मिलती।**" दान देने में त्याग करना होता है। इस लिये इस का शुद्धरूप यह है कि विना त्याग के कोई वस्तु नहीं

मिल सकती है । असल में मनुष्य में पिछली कमाई को स्वाहा करते हुए और इस प्रकार हवन के कदमों से चलते हुवे ही अपने लक्ष्यपर पहुंचना है।

आप इन उपमाओं को खूब सोचें। आप इन्हें जितना सोचेंगे उतनी ही दान की आवश्यकता आपमें जागृत होगी। आप धीरे-धीरे त्याग करने के लिये आतुर होने लगेंगे। जब मनुष्य दान देता है, त्याग करता है तभी नई नई वस्तु के आगमन को प्राप्त करता है। जैसे कि यदि एक जल प्रवाहका रोका जावे तो वहां जलका आगमन भी बन्द पड जावेगा। अथवा ऐसे समझिये कि एक बालक के पास पानीसे भरा कटोरा है और अब वह मातासे दूध लेना चाहता है यदि वह यह चाहे कि मैं पानी का भी त्याग न करूं, तो वह दूध किस जगह लेगा। उसे उत्तम चीज को पाने के लिये पहिली चीज का त्याग करके जगह बनानी चाहिये । मनुष्य शरीर में से कुछ त्याग करता है तब वह नया भोजन ग्रहण करने के योग्य होता है। हम श्वास बाहर छोडते हैं तब अन्दर श्वास ले सकते हैं क्या हम जीवित रह सकते हैं यदि हम अन्दर ही श्वास लेते जावें और बाहर न छोडे। बल्कि हम देखेंगे कि जितनी अच्छी तरह से हम बाहर श्वास छोडें उतना ही अधिक श्वास हमारे अन्दर प्रविष्ट होगा। और उपवास शास्त्रज्ञ कहते हैं, कि उपवास को दिनों में हमारा शरीर प्रतिदिन जितना घटता है उस के बाद भोजन शुरू करने पर उससे चार गुणा अधिक वेगसे हमारा शरीर प्रतिदिन बनता है। क्यों कि उस त्याग की क्रिया से शरीर शुद्ध होता है और शुद्ध शरीर में ग्रहण करने

की शक्ति बढ जाती है। इस लिये त्याग करना घाटे का सौदा तो कभी नहीं है। अपि तु जीवित रहने तक के लिये त्याग जरूरी है। उच्च संपत्ति प्राप्त करने का उपाय ही दान है। जो मनुष्य दान न दे कर अपनी सम्पत्ति बढता है वह यह भारी भूल कर रहा होता है कि जो धन उसके लिये नहीं है उसे फजूल अपने पास रखता है वह अपनी अस्वस्थ बुद्धि करता है। इसका परिणाम यह होता है, कि चोरी, आगलग जाना बैंक टट जाना आदि सैंकडों तरीकों से उस से धन छीन लिया जाता हैं। क्यों कि ईश्वरीय नियमों के अनुसार वही हमारे पास रह सकता है जो कि हमारे भलेके लिये हैं। यदि हम इसे स्वयं खुशी से त्याग नहीं देते तो वह से हम छीन लिया जाता है।

हमारी और पाश्चात्यों की सभ्यता में यही एक भारी भेद है। पश्चिम में जब तक गरीब लोक तंग आकर अमीरों को लूट नहीं लेते तबतक गरीबोंका अधिकार स्वीकृत नहीं किया जाता। परन्तु भारतीय सभ्यता में स्वयमेव दान देना हर एक का आवश्यक कर्तव्य रखा गया है। ये पांच यज्ञ क्या क्या है? ये सब विना मांगे देना हैं। उदाहरणार्थ अतिथियों को विनाखिलाए न खाना अतिथियज्ञ है। भारत के इतिहास में ऐसी बहुतसी बातें प्रसिद्ध है जब कि गृहस्थी कई दीनों तक स्वयं भूख रहें परन्तु आए हुए अतिथियों को अपना सब कुछ दे दिया। इसी कारण उस समय में समाज में शान्ति थी। हर आदमी अपने में पूर्ण नहीं होता। विना दूसरेसे लेन देना किये समाज नहीं चल सकता, इस

लिये उस समय हर मनुष्य के लिये दान करना कर्तव्य रखा जाता था, और इस लिये दूसरों के छीनने का अधिकार कभीभी स्वीकार करने की उस समय जरूरत नहीं थी Socialism और Bolshevism आदि कुछ नहीं कर सकते जब तक कि समाज में दान भाव न भरा जाए। इस दान भावके बढाने का तरीका है " **रुपये की कदर को घटाना** " रुपये से सहस्त्रों गुणा श्रेष्ठ धन है "ज्ञान"। उस समय ज्ञानधनी की कदर बढाई जाती थी। ब्राह्मण जिसके पास दूसरे समय का भी भोजन नहीं होता था वह राजा से भी बडा समझा जाता था। आज कल के बडे आदमी की पहचान या कदर रुपयेसे है। यदि वह रुपये की जरूरत नहीं अनुभव करता तो भी उसे यह धन रखना पडता है। क्योंकि आदमी की योग्यता इसी में है कि कौन कितना कमाता है। कौन कितना त्याग करता है, इसकी जगह यह देखा जाता है कि कौन कितना अधिक वेतन पाता है। जब इस प्रकार ज्ञानियोंको भी धन का बटोरना जरूरी हो तब बेचारे वैश्यों और शूद्रों के लिए क्या बचे। बस इसी लिए झगडा है। यदि ब्राह्मण " अपरिग्रह " को धारण करें और उनकी पूजा ज्ञान के कारण हो, और क्षत्रिय की पूजा उसकी शूर :वीरता और बल और साहस के कारण हो, तो वह धन स्वयमेव ही जो उस के अधिकारी में हैं उन्हीं वैश्यों और शूद्रों के पास पहुंच जाए। पर यह तभी हो सकता है जब समाज में त्याग को महत्व दिया जाए हर एक गृहस्थी पंचमहायज्ञ अर्थात् नाना प्रकार से दान देना अपना कर्तव्य समझ कर प्रतिदिन करें। ऐसी सभ्यता का आश्रय करने से ही समाज में शान्ति रह सकती है।

कुछ मास हुए Modern Review पत्रिका में एक टिप्पणी लिखी गई थी जिस का शीर्षक था The Savage अर्थात् "जंगली" इसमें एक दर्शक ने अफ्रिकाकी एक जंगली जाती (जो कि इतनी असभ्य है कि कपडे पहना भी नहीं जानती) के एक परिवार का आखों देखा वर्णन किया था। उस जंगली का दो दिन तक भोजन नहीं मिल सका था इस लिये उसके बच्चे और बच्चे की मा बडे कृश हीन और आतुर थे। तीसरे दिन कहीं वह जंगली शिकार प्राप्त कर सका। उसे पकाना शुरू किया गया। भूके बच्चे अध पके को ही खानेको व्याकुल हो रहे थे, परन्तु माता पिता ने बडे यत्न से उसे बचाए रखा, जब भोजन पक गया तब उसे हाथ में लेकर वह जंगली अपनी झोंपडी से बाहर निकला और बाहर खडे होकर बडी जोर से चिल्लाया कि "क्या कोई भूका है—वह भोजन कर लेवे" फिर दूसरी दिशामें खडे होकर चिल्लाया कि "यदि किसी को भोजन की जरुरत हो तो वह हमारे साथ शरीक हो" इसी प्रकार चार बार चारों दिशा ओं में उसने भोजन खाने वाले को इतनी जोर दार आवाज में बुलाया कि मानो उस की आवाज सारे अफ्रीका में गूंज जाएगी। फिर कुछ देर प्रतीक्षा की जब कहीं से कोई आवाज नहीं आई तब कहीं परिवार वालों ने मिल कर तीन दिन के बाद वह भोजन किया। क्या वे असभ्य हैं या हम, जो कि दूसरों के मुख का ग्रास हमेशा छीनने यत्न करते रहते हैं। चाहे आप सभ्यता किसी चीज का नाम रखें परन्तु जिस समाज में हरएक मनुष्य औरों को भूखा न

रख कर फिर स्वयं खाता है उसी समाज में सब लोग सुखी रह सकते हैं और सबको सुख ही चाहिये फिर चाहे आप उस समाज को सभ्य कहे या असभ्य इसी लिये इसी सूक्त में वेदने कहा है—

—**केवलाघो भवति केवलादी ।**

' अकेला भोजन करनेवाला केवल पापको ही खाता है । " इसी की प्रतिध्वनि भगवान् कृष्णने भगवद्गीता में की है—

—**भुञ्जते ते त्वघं पापा य पचन्त्यात्मकारणात् ।**

जिस समाज में विना दूसरेको खिलाए खाना पाप समझा जाए वहीं स्वाभाविक सुखशान्ति विराजमान हो सकती है । मनुष्य तो भूखे मरने पर लड मर करभी भोजन छीन सकते हैं इस लिये उन का भय भी हो सकता है परन्तु बेचारे पशुपक्षी आदि तो बिल्कुल निस्सहाय ही होते हैं । परन्तु इस वैदिक सभ्यता में प्रतिदिन बलि वैश्वदेव यज्ञ करके उनके भी हिस्से स्वयमेव दे लिये जाते हैं । यह वैदिक सभ्यता में विशेषता है, इस लिये कमसे कम आर्य समाज में तो हरएक व्यक्ति को अपना वैयक्तिक लाभ समझते हुए त्याग करना चाहिये और दान को अपना " **प्राण** " समझना चाहिये । अपने समाज में धनकी कदर हटानी चाहिये और त्यागकी कदर बढानी चाहिये । इस प्रकार यदि हम पहिले अपनी समाज को सुधारेंगे-अपनी समाजको वैदिक धर्मी बनायगें, तो कभी हम सब संसारकी समस्याओं को भी अपने वैदिक आचरण द्वारा हल कर सकेंगे ।

शायद आप कहेंगे कि त्याग का ! सुन कर भी हमें श्रद्धा

नहीं जमती । विश्वास नहीं होता कि त्याग करने से अवश्य लाभ होगा । मेरी समझमें तो भी आप को वेदवचन पर विश्वास रख-कर त्याग ही प्रारंभ करना चाहिये । यह ठीक है कि विना श्रद्धाके प्रवृत्ति नहीं होती परन्तु श्रद्धा भी कुछ न कुछ प्रवृत्ति से ही होती है । और यह समझ कर कि क्योंकि वेद त्याग का उपदेश करता है और क्यों कि आचार्य दयानन्दका जीवन भी हमें यही दिखलाता है आप एक बार त्याग कीजिये, त्याग करने पर आपको जो आनन्द का स्वानुभव होगा उससे त्याग में भी श्रद्धा हो जायगी। उस श्रद्धावश फिर आप ज्यों ज्यों अधिक त्याग करेंगे त्यों त्यों आप की श्रद्धा भी बढती जायगी । और एकदिन आयगा जब कि आप अपना सर्वस्व त्याग करना भी खेल समझेंगे। इसलिये आप खाली बैठकर श्रद्धाकी प्रतीक्षा न करें, किन्तु श्रद्धा न जमती हो तो भी त्याग की तरह कदम बढाइये । कदम बढानेसे श्रद्धा भी स्वयमेव जम जायगी । मुझे यहां पर कविसम्राट् रवीन्द्र ठाकुर का एक हृदयग्राही गीत स्मरण आता है । उसका हिन्दी अनुवाद मैं पाठकों को जरूर सुनाना चाहता हूं । आप इसे जरा ध्यान से पढें ।

' मैं गांव की गली में द्वार द्वार पर भीक मांगता हुआ फिरता था, जब की एक भव्य स्वप्न की तरह तेरा स्वर्णमय रथ दूर से दिखाई पडा और मैं विस्मित होगया कि यह राजाओंका राजा कौन है ।

' मेरी आशाएं ऊंची चढ गईं और मैं ने सोचा कि मेरे बुरे दिनोंका अन्त होगया और मैं इस प्रतीक्षा में खडा होगया कि

आज मुझे विना मांगे भिक्षा मिलेगी और इस भूल पर ही सब तरफ से अशर्फियों की वर्षा हो जाएगी।

'वह रथ मेरे पास आकर खडा होगया। तेरी दृष्टि मुझ पर पडी और तू मुस्कराहट के साथ नीचे उतरा। मैं ने अनुभव किया कि अन्त में मेरा भाग्योदय हो ही गया।

'तब तूने एक दम अपना दायां हाथ पसारा और कहा "तेरे पास मुझे देने के लिये क्या है।"

'आह! यह कैसा राजकीय उपहास था कि भिखारी के आगे अपना हाथ पसारना! मुझे कुछ सूझ न पडा और मैं खडा रह गया और फिर अपनी झोली में से धीरे से एक बहुत ही छोटा अन्न का कण निकाला और इसे तुझे दे दिया।

'परन्तु मैं आश्चर्य में डूब गया जब कि मैं ने शाम को झोली खाली करने पर यह देखा कि उस भीक तुच्छ ढेरी में एक सोने का छोटासा कण है। मैं फूट फूट कर रोया और पछताया कि हाय! मुझे अपना सर्वस्व तक तुमारे लिये दे डालने की हिम्मत क्यों न हुई॥"

सब मनुष्य ऐश्वर्य चाहते हैं। और सर्वैश्वर्यवान् परमात्मासे सच-मुच हमें सब कुछ मिल सकता है। परन्तु परमात्मा हम से सदा यही पूछते रहते हैं कि तुम दान कितना करते हो, त्याग कितना कर सकते हो। और हम जितना थोडासा त्याग करते हैं, हमें पीछेसे पता लगता है कि हमारा उतना थोडासा त्याग सुवर्ण मय हो जाता है। तब मनुष्योंको त्याग में श्रद्धा होती है। तब वह

पछताता है कि कितना अच्छा होता कि मैं सब कुछ दे देता। शायद हमें भी कभी ऐसे ही पछताना पडे। इस लिये आइये ईश्वर से हिम्मत की याचना कीजिये। वह हमें त्याग करनेकी हिम्मत देवे। इस से मत घबराइये कि त्याग से आप का नाश होगा। यह कभी नहीं हो सकता। जितना हम त्याग सकेंगे उतना ही उच्च ऐश्वर्य प्राप्त कर सकेंगें। महात्मा लोग जो अपना सब कुछ त्याग देते हैं उन्हें सब संसार का ऐश्वर्य मिल जाता है। हमारे आचार्य स्वामी दयानन्द उन्ही महात्मा ओं में से थे। वे जिस कुल में उत्पन्न हुए थे वह कुलीन घर था—वह बडा प्रतिष्ठित कुल था-उस कुल के पास वडी जायदाथ थी। उन्होंने इस सब सम्पत्ति और भोग को त्यागा। इसे त्याग कर उन्होंने जो उच्च ऐश्वर्य प्राप्त किया उसे भी लोकोपकार में ही स्वाहा कर दिया, उस से अपना कुछ भोग सिद्ध न किया। इस लिये वे भगवान् के उन सच्चे पुत्रों में से हुए जो कि अपना सब कुछ त्याग कर, ईश्वर के सब ऐश्वर्य पर अपना स्वत्व प्राप्त करते हैं। हम आर्यसमाजियों को भी चाहिये कि हम इन त्याग की सीढियों पर चढते हुए हवन के कदमों द्वारा उसी स्थान पर पहुंचें जिसे कि हमारे आचार्यने प्राप्त किया था।

भगवान् दयानन्द हमारे पथ दर्शक हों।

---

(७) देशभक्ति ।

माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः ।   अथर्व. १२।१।१२

ऋषि दयानन्द के जीवनसे और वेदके उपदेश के अनुसार जिस देशभक्ति के गुणका मैं इस महिने के लिये उल्लेख करना चाहता हूं, वह ऐसा गुण ह जिसकी कि इस देश के (भारत वर्षके) लोगों में विशेष कमी है इस लिये जैसे कि प्रत्येक अन्य वैदिक धर्म के अंगमें आर्यसामाजिक पुरुषों को अग्रणी होना चाहिये । वैसे ही इस देशभक्ति के अत्यावश्यक गुण के विस्तार में भी आर्यसमाजी भारतवासियों को विशेषतया पथ प्रदर्शक का काम करना चाहिये । यदि हम इस बात को समझेंगे तो हममें प्रत्येक व्यक्ति अपने में देशभक्ति का गुण लानेका शीघ्र प्रबल यत्न करेगा ।

यह लिखनेकी जरूरत नहीं कि क्यूंकि अभीतक आर्यसमाज भारतदेश तक ही परिमित है और इस देशके सभी लोगोंने अभीतक देशभक्तिको अच्छी तरह नहीं सीखा है, अतः स्वभावतः मैं इस लेखमें भारत देश की भक्ति का वर्णन करूंगा । इस से पाठक यही समझें कि मैं यह लेख भारतवासी वैदिकधर्मियों को दृष्टि में रखकर लिख रहा हूं, यद्यपि सामान्य तया कहा जा सकता है कि अन्यदेशों में उत्पन्न होने वाले वैदिक धर्मियों को भी इन्हीं वैदिक सिद्धान्तों के अनुसार अपनी देशमाता की सेवा करनी चाहिये और इस महान्

धर्म का पालन करते हुए सामाजिक सुखसंपत्ति बढाकर वैयक्तिक सुखसंपत्ति भी पाकर कृतकृत्य होना चाहिये।

हम में देशभक्ति की कमी क्यों है ? इस का कारण यही समझ में आता है कि हमने अपने हृदय को फैलाया नहीं है, अपनी दृष्टि को विस्तृत नहीं किया है। मैं चाहा करता हूं कि हरएक भारत-वासी अपने विशाल घर को देखे और वहां अपनी वेदोक्त माता का दर्शन करे। यदि मैं आपसे आपका घर पूछूँ तो शायद आप अपने छोटेसे चार दिवारी से घिरे हुवे घर की तरफ इशारा करेंगे। और अपने दोचार भाई बहनों की जननी को माता कह कर बतलायें गे परन्तु हमें इस से ऊपर उठना है और उठ कर जिस अपने विशाल घरकी वन्दनीया माता को देखना है वह कुछ और है। इसके लिये अपने हृदयको दूरतक विस्तृत कीजिये, दिलको खोल दीजिये। यदि आप इस असली माताको देखना चाहते हैं तो ऐसा ही करना होगा। तब आप देखें गे कि हमारा विस्तृत घर वह है जो कि काश्मीर से कन्याकुमारी तक और कच्छ से कामरान तक फैला हुआ है, जिसमें कि पंजाब, संयुक्त प्रान्त, बंगाल मद्रासादि प्रान्त ऐसे हैं, जैसे कि एक घरके कई कमरे होते हैं। इस घरमें दोचार नहीं किन्तु ३० करोड भाई बहने बस रहे हैं। क्या आपने अब अपनी माता को देखा ? इस ३० करोड हिन्दु मुसल्मान सिक्ख व ईसाई आदि भाई बहनोंकी जननी अपनी वृद्धा माता को पहचाना ? वह यह माता है जिस की कि सेवा के लिये यदि जरूरत हो तो हमें अपनी दो चार भाई बहनों की माता को त्याग देना चाहिये और

अपने क्षुद्र घरका बलिदान कर देना चाहिये। यह वह माता है जिसे अभीतक न पहचानने और अतएव उसकी सेवा तत्पर न होने के कारण हम अनगिनत दुःख और विपद उठा रहे हैं और दुनियामें महापतित दुःखागार बने हुए हैं और जिसकी एक मात्र सेवासे ही फिर हमारा उद्धार हो सकता है। यही सेवा किये जाने योग्य और वन्दना किये जानेके योग्य हमारी माता है। "वन्दे मातरम्" की पवित्र ध्वनि उठाकर देशभक्त लोग इसी माता को नमस्कार करते हैं। आइये वैदिक धर्मी बन्धुगण! हम इस माताके आगे सिर झुकायें और वेदके शब्दोंमें अनुभव करें—

माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः। अ. १२।१।१२

'यह मातृभूमि मेरी माता है और मैं इस विस्तृत पृथिवीका पुत्र हूं।' यह अथर्ववेद के प्रसिद्ध पृथिवीसूक्तका एक वाक्य है, जो कि इतना स्पष्ट है कि एक संस्कृत न जानने वाला भी इसका अर्थ समझ सकता है। इस सूक्तमें मातृभूमि विषयक बडा ज्ञान लिखा हुआ है परन्तु हम तो यदि केवल इस एक वेदवाक्यको ही अपनालें और इससे यह समझ जावें कि यह भूमि हमारी माता है और हम सब इसके पुत्र हैं तो हम कुछके कुछ बन जायें। हर एक भारतवासी को अपना भाई समझने लगें। जैसे कि अपने माता पिता गुरु परमात्मा आदिके प्रति हमारे कर्तव्य हैं वैसे ही इस देशमाता के प्रति भी अपने आवश्यक कर्तव्यों को समझने लगें, और इसकी सेवाके लिये अपना सब कुछ अर्पण करने को भी तैयार हो जायें। तब हमें समझमें आवे कि तिलक महाराज जैसे हमारे दिव-

गत भाई किसकी सेवा में अपना जीवन अर्पण कर गये । और गांधिजी जैसे हमारे वर्तमान भाई किस पवित्र काम के लिये हमें बुला रहे हैं ।

माता की दुःखित दशा ही इन हमारे माननीय भाईयों को क्षण-भर भी चैन नहीं लेने देती जरा इस अपनी जननी की दशा अपनी आंखसे देखो । जिस माताके पुत्रही अपनी मांको न जानते हों उस की कैसी दशा होगी ? भगवान् ही उसका मालिक है । अन्य सब देशवासी अपनी देशमाता को तो जानते हैं, इसी लिये अन्य त्रुटियों के होते हुवे भी वे सुखी हैं । हम क्या करें ! हमारी माताके सुपुत्र तिलक, गोखले, दादाभाई आदि हमें मार्ग दिखाने का यत्न करते हुए गुजर गये । इस समय भी माता का ऐसा लाल विद्यमान है जिसका कि नाम जब तक यह जगत है अमर रहेगा । परन्तु तो भी हमें सफलता क्यों नहीं मिली । इसका कारण यही है कि हममें से अभी बहुत से ऐसे हैं जिन्होंने अपनी माता को नहीं समझा है। हमने मुखसे ‘ वन्दे मातरम् ’ की काफी चिल्लाहट मचाई है पर दिलसे उस माता की वन्दना नहीं की है । नहीं तो हममें इतनी फूट कभी नहीं रह सकती थी । आइये ! आज से हम अपनी माता को अपने दिल में बिठा लें इस के सामने अपने अन्य सब छोटे छोटे स्वार्थों को त्याग दें और मिल कर राष्ट्रीय आज्ञा के पालन करने में लग जाये तब देखेंगे कि तीस कोटी की जननी को क्या संकट रह सहता है ।

परन्तु इस मातृसेवा के कार्य में सब से अधिक कर्तव्य आर्यसे

माज का है। क्यों कि आज से बहुत पहले एक ऋषिने अपनी इस माता की दुःखावस्था देखी थी और फलतः आर्य समाजको जन्म दिया था। उसे उस गुलामी के पूर राज्य के जमाने में भी अपने चक्रवर्ती राज्य की याद आया करती थी। उसने देखा क्या कि मां के न केवल हाथ बंधे हुवे हैं, न केवल उसके मुख में कपडा घुसा हुआ है परन्तु उसकी छाती पर शत्रु पांव रक्खे खडा है, "यह देश विदेशों से पादाक्रान्त हो रहा है" उसने माताके बन्धन छुडाने का मौलिक उपाय करनेके लिये इस संस्थाकी स्थापना की थी ऐसा हम आज कह सकते हैं। उनका पूरा उद्देश्य तो माता को बन्धन से छुडाकर उसे स्वतंत्र कर उसकी दुनियामें प्रतिष्ठा स्थापित करना और उसके पास उसके पुराने ऋषि मुनियों से संचित जो **वैदिक धर्म का खजाना** है उसे दुनिया को देकर शान्ति फैलाना था। पर हमने अब तक क्या किया है! अभीतक तो माता को बन्धन से भी मुक्त नहीं किया है। बन्धन से मुक्त ही नहीं, बहुतों ने तो अभी उसके दर्शन भी नहीं किये हैं। वैदिक धर्मियों के सामने कितना भारी काम है। हम अभीतक चाहे कहीं अपना मन भटका रहे हों पर समय आगया है, कि हमें मातृसेवा के लिये अपना पूरा ध्यान देना होगा। यह हमारा पहला कार्य है।

इस लिये इस महीने माताके दर्शन अवश्य कर लीजिये।

उसकी दुखित दशा को देखकर अपने कर्तव्य निश्चित कर लीजिये। जरा देखिये कि यदि माता स्वाधीन होती तो भी उस की सेवा शुश्रूषा की सतत आवश्यकता थी, परन्तु अब जब कि

उस की यह हालत है तब तो हमें अन्य सब काम छोड कर इसमें लगना चाहिये। माता के प्रति अपने कर्तव्यों को हम पूरा नहीं कर रहे हैं इसी कारण हम इतने विपद्ग्रस्त हैं। यह आप विचारेंगे तो पता लगेगा कि हमारा इस माताके प्रति कितना भारी कर्तव्य है। इस का विना उद्धार किये सचमुच हमारे सब काम रुके पडे हैं।

माता की मूर्ति यदि आपको दिखाई दे गई है तो इसे बार बार विचार कर हृदय में स्थिर कर लीजिये। फिर जब कभी विदेशी वस्त्र पहनने का या कोई अन्य राष्ट्रीय पाप करने का प्रलोभन उपस्थित हो तब जरा इस माता का स्मरण कर लिया कीजिये। यदि कभी माता के लिये धन देने, मन देने, या तन तक देने में हिच किचाहट हो तब आचार्य दयानन्द के यह शब्द कानों में गूंजने दिया कीजिये कि "माता की छातीपर शत्रु पैर रखे हुये हैं।" और बातों का क्या कहना है तब तो मरना ही आप को बडा आसान प्रतीत होगा। स्वदेशी वस्त्र पहनना या चर्खे के लिये समय निकालने की तो शिकायत रह ही नहीं सकती, तब तो आप आसानी से ऐसे ऐसे घोर तप भी करलेंगे कि सब दुनिया देखकर चकित होगी। बस केवल एक बार माता को देखने की देर है।

---

(८) चरखा।

या अकृन्तन्नवयन् याश्च तत्निरे या देवीरन्तॉं अभितो ददन्त। तास्त्वा जरसे सं व्यायंत्वायुष्मतीदं परि धत्स्व वासः। अ० १४।१।४५.

इस बार जिस विषय पर मैं कुछ शब्द लिखने लगा हूं उस का सम्बन्ध कई कारणों से हमारे वर्तमान राजनैतिक आन्दोलन से भी हो गया है । इस लिये इस विषय पर कुछ अधिक लिखने की जरूरत नहीं । आपने महात्मा गांधिजीके इस विषय पर बहुत से उपदेश सुने या पढे होंगे । और राष्ट्रीय महासभा की इस विषयक आवाज भी आपके कानों तक जरूर पहुंची होगी । इस सम्बन्ध में मैं उनसे अधिक और कुछ नहीं लिख सकता । यदि किसी का ध्यान अभीतक इस तरफ आकृष्ट नहीं हुआ है तो मेरे इस छोटे से लेख से कुछ लाभ होने की संभावना नहीं है परन्तु तो भी मैं एक अन्य प्रकारसे अर्थात् एक वैदिक धर्मी की हैसियत से इस लेख माला में चर्खे के विषय पर कुछ लिखना चाहता हूं । लिखना ही नहीं चाहता किंतु लिखना अपना आवश्यक कर्तव्य समझता हूं क्यों कि यह एक ऐसा विषय है जो कि वैदिक धर्मियों के बतलाने के प्रकरण में छोडा नहीं जा सकता ।

अतः जो सज्जन इस विषयमें विस्तारसे (अर्थात् देशसेवाकी दृष्टिसे भी) जानना चाहते हो उनकी सेवामें मैं यहीं कहूंगा कि वे महात्मा गांधिजी के लेखोंको पढें और जो पहले से पढते हैं वे उनका और मनन करें और यह अनुभव करें कि दरिद्र भारत के लिये चर्खा एक अनमोल वस्तु है, यह हममें फिर से जान डालने वाला है और भूखे भारतीयों के लिये सचमुच कामधेनु है । परन्तु इस लेखमें मैं जो कुछ कहना चाहता हूं वह यह है कि चर्खा एक

वैदिक सभ्यता की चीज है, अंग्रेजी राज्य से पहले हमें लडाई आदि के और कई दुःख बेशक थे, परन्तु तब तक भारतवासी भूखे नहीं थे; क्यों कि तब तक हमने वैदिक धर्मके एक छोटे से अंगभूत इस चरखे को नहीं छोडा था। तब तक कपडे जैसी सर्वोपयोगी वस्तु के लिये हम कभी पराधीन नहीं हुवे थे, अतः लडते झगडते हुए भी हम सुखी थे, धनी थे और मानी थे। परन्तु जब से सुस्ती और आरामतलबी के असुर ने हमें बाजार से बना बनाया कपडा लेना सिखला दिया तभी से हम निःसहाय और भीखमंगे हो गये हैं। साथही इस थोडे से समय मैं चरखे को ऐसा भूल गये हैं कि अब मालूम होता है कि चरखा कोई एक नयी चीज है। अभी ८० या ९० वर्ष पाहिले भारतवर्ष बढिया से बढिया हात कते और हाथ बुने पवित्र वस्त्रों से न केवल तीस कोटि भारतवासियोंके तनको ढांपता था किंतु अन्यदेशों के शोकीनें। के लिये भी हाथ से कात और बुन कर उन्हें यथेच्छ वस्त्र उपलब्ध कराता था। हमारे देश का यह एक खास हुनर था जिसका कि हम अभिमान करते थे। बुद्ध भगवान् जब उपदेश देते हुवे भ्रमण करते थे उस समय का उनका एक स्त्रियों को दिया हुवा उपदेश मिलता है जिस में कि उन्होंनें 'सूतकातना, धुनकना, ओटना, सूत रंगना' आदि के विषय में बहुत कुछ कहा है जिससे कि पता लगता है कि उस समय में यह कार्य कितना प्रचलित था और कितना आवश्यक समझा जाता था। उससे पहिले मनुस्मृति और वेदतक सब समयके ग्रन्थों में इसका उल्लेख पाया जाता है। मुझे शर्म आती है कि

आज हमें इस बातके लिये भी प्रमाण देने की जरूरत हो रही है कि पहिले सदा से चर्खा चला आ रहा है और अभी अंग्रेजी राज्य के जमने पर ही छूटा है। यह तो ऐसा स्वभावतः चला आ रहा है जैसे कि घर घर भोजन पकाना आदिसे चला आ रहा है।

पर शायद आप कहेंगे कि 'अब समय बदल गया है' अब कलायन्त्रों का जमाना है। सूत कातना और बुनना तो कला ओं से भी हो सकता है। पर मैं कलाका खण्डन नहीं करता हूं। चरखा भी एक कल है। बडे बडे पुतलीघरों (कारखानों) के लिये अवश्य वैदिक धर्ममें गुंजायश नहीं हैं बल्कि वे वैदिक धर्म के लिये विपरीत हैं। परन्तु इस विषय में भी मुझे बहुत लिखने की जरूरत नहीं है, क्यों कि आज कल के भी बहुत से विचारक आपको अच्छी तरह बतला देंगे कि इन महाकारखानों से संसार को कितनी हानियां हुई हैं, और हो रहीं हैं। तो भी वैदिक दृष्टिकोणसे देखते हुवे मैं संक्षेपसे कहना चाहता हूं कि—

(१) वैदिकधर्मके आदर्शभूत सादगी और जीवन की सरलता के सिद्धान्त के अनुसार चरखा ही जरूरी है। हमने अब अपने जीवन को बहुत विषम कर लिया है इसी लिये इस समय हमें चर्खा समयानुकूल नहीं प्रतीत होता। परन्तु यदि कुछ समय पहिले चरखे के जमाने में सब लोग सुख से जीवन निर्वाह करते थे तो अब वैसे ही क्यों नहीं कर सकते हैं।

(२) और कपडे जैसी हरएक व्यक्तिके जीवनोपयोगी वस्तु (मिल मालिकों) कारखानासंचालकों के हाथ में नहीं छोडी जा

सकती। इस के लिये तो घर घर में चर्खा पहुंचा कर स्वाधीनता प्राप्त करानी चाहिये।

(२) हमारा इस तरफ भी ध्यान जाना चाहिये कि अपने ऊंचे विचारों की और पवित्रता की अनुकूलता के लिये भी हाथ बुने कते वस्त्र ही वांछनीय हैं, ठीक ऐसे ही जैसे कि उच्च जीवन में अनुकूलता प्राप्त करने के लिये शुद्ध और पवित्र भोजन की जरूरत होती है। आशा है वैदिक धर्मी लोग इस बारीकी को भी अनुभव करेंगे। इस प्रकार विचार और तर्कना से भी हम समझ सकते हैं कि वैदिकसभ्यता में वस्त्रों की उत्पत्ति गृहव्यवसाय से ही होनी चाहिये।

परन्तु मैं तो वैदिक धर्मिओं को केवल उनकी एक प्रतिज्ञा स्मरण कराना ही पर्याप्त समझता हूं। अर्थात् शब्द प्रमाण उपस्थित करता हूं। और वह स्पष्ट है। आपमें से जिन का विवाह वैदिक रीति (या हिंदु रीति से भी) हुवा है उन्होंने वहां ऐसी प्रतिज्ञा की है। हर एक वैदिक धर्मी को, चाहे उनका विवाह यथोचित रीति से न हुवा हो, इस प्रतिज्ञा से अपने तईं बद्ध समझना चाहिये। वह जब कन्या को वस्त्र देता है तब कहता है।

या आकृन्तन्नवयन् या अतन्वत्। याश्च देवीस्तन्तूनभितो ततन्थ।
तास्त्वा देवीर्जरसे संव्ययस्वायुष्मतीदं परिधत्स्व वासः।

(संस्कार वि० विवाहप्रकरण)

अथर्व० १४।१।४५

' जिन देविओंने काता है और बुना है, ताना किया हैं और उसमें दोनों तरफ से बाना डाला है। वे तुझे बुढापे तक वस्त्र से ढांपती रहें। आयुष्मती होती हुई तू इस वस्त्र को धारण कर।' जन्मभर हाथ कते बुने वस्त्र धारण करने की यह प्रतिज्ञा आप याद करें। इसी प्रतिज्ञा के कारण हमारे विवाहों में यह प्रथा थी और अब भी बहुत जगह प्रचलित है कि विवाह के समय कन्या को एक चर्खा भी भेट किया जाता है।

इस विषय में और बहुत से वेद मंत्र होते हुवे भी, मैंने इस मंत्र को इस लिये उपस्थित किया है क्यों कि इस मंत्र को बोलकर हर ऐक गृहस्थ ने प्रतिज्ञा की है। यदि आप इसे भूल गये हों तो अब फिर याद कर लीजिये। यह प्रतिज्ञा ईश्वर के सामने सब सज्जन मंडली के बीच में हर एक आर्य (हिंदु मात्र) ने विवाह की गयी है। क्या यह हो सकता है कि आप इस प्रतिज्ञा के निबाहना न चाहते हो ? तो हमें चाहिये कि यदि अभीतक ऐसा नहीं किया है तो उस के लिये भी प्रायश्चित्त करें और आगे के लिये व्रत लें कि आज से हाथ कता बुना वस्त्र ही पहिनेंगे और वह भी अपने घर की देविओं से काते हुवे सूत का। हमें अपने घरमें देविओं के लिये कातना आवश्यक रखना चाहिये। यदि वे कहीं अपना कर्तव्य नहीं समझतीं तो हमें चाहिये कि हम कातकर उदाहरण उपस्थित करें। हमें आग्रह करना चाहिये कि धर्म-पत्नी अथवा दूसरी अवस्थामें माता भगिनी आदि नहीं कातेगी तो हम वस्त्र नहीं पहिनेंगे। तभी हमें चर्खेको पुनरुज्जीवित कर सकेंगे।

इस मंत्र में कन्या को " आयुष्मती " कहा है। हात कते बुने वस्त्र पहिनने से सचमुच आयु बढती है। जिस सूत को धर्म-पत्नी या अपनी बहिनें और मातायें प्रेम से तथा अपने मनके हितभरे भावसे कातेंगी और इन्हीं भावों को वस्त्र में बुन देंगी, वह वस्त्र जरूर हमारे शरीर के लिये कल्याणकारी होगा। इसकी अपेक्षा वह वस्त्र जो कि वर्तमान कारखानों में (चाहें हिन्दुस्थान के कारखानों में ही) बना है जिस में कि मजदूरों ने नाना दुःख क्लेश मानते हुवे और बहुत सी अवस्था ओं में आचार नाश आदि आत्मिक हानितक करते हुवे काम किया है, वह वस्त्र यहि हमारी आयु सर्वथा घटायगा नहीं, कमसे कम बढायेगा भी नहीं, । इन वस्त्रोंको जो आज कल प्रायः पहिनाये जाते हैं पहिना कर कन्या को ' आयुष्मती ' कहना मुझे बडी क्लेशदायक मखौल मालूम होती है।

परन्तु यह सब बात मैंनें वैदिकधर्म की दृष्टिसे लिखी है अर्थात् यदि हमारा देश राजनैतिक तौर पर स्वाधीन हो तो भी वैदिक धर्मानुयायिओं को कपडा गृहव्यवसाय से ही बना हुवा पहिनना चाहिये। परन्तु अब जिस समय की हम इतनी बुरी तरह गुलामी में फसे हुवे हैं और चर्खेद्वारा उद्धार हो सकता है तब तो चर्खे के प्रति हमारा कर्तव्य एकदम कई गुणित अनुपात में बढ जाता है। तब को केवल आर्यस्त्रियों को ही नहीं, परन्तु प्रत्येक आर्यपुरुष को भी आपद्धर्म के तौर पर प्रति दिन कातने के लिये समय देना चाहिये। कुछ भी करते हुवे हम अपनी मातृभूमि की अवस्थाको कैसे भुला सकते हैं। अतएव (यदि हमने देशभक्ति के गुण को

कुछ धारण किया है) चख को इस अवस्था में भुलाना, यदि मैं इस के लिये नरम सा शब्द प्रयोग करूं, केवल ' पाप, है ।

तो हमें अपने अंतःकरण से पूछना चाहिये और इस का क्रियात्मक उत्तर देना चाहिये; ' क्या मुझ आर्यका घर एक दिन के लिये भी चरखे की गुंजान से रहित रह सकता है ? '

---

(९) श्रद्धा ।

" श्रद्धया विन्दते वसु । "

प्रायः सुना जाता है कि हम आर्यसमाज के सभासदों में श्रद्धा की कमी होती है । यह कहा तक ठीक है यह तो पाठकोंको अपने हृदयों से पूछना चाहिये । कई बार स्वयं इस लेख के लेखक का ऐसा दौर्भाग्य हुआ है कि कई अन्यमतावलम्बी बडे भद्र पुरुषोंने केवल यह जानकर कि आर्यसमाजी है यह निश्चय से मान लिया था कि यह अवश्य श्रद्धा रहित है और इससे बडी कठिनाई उपस्थित हुई । जरा विचारिये यह हम पर कितना भारी लाञ्छन है । इस ऋषिस्मरणके सुअवसर पर हमें चाहिये कि हम अपने परसे यह लाञ्छन भी शीघ्रसे शीघ्र दूर करने का प्रबल यत्न करें । आशा है कि यदि हम इस दिशामें थोडासा भी यत्न करेंगे तो आसानीसे इस श्रद्धा प्राप्तिमें हम कृत कार्य हो सकेंगे ।

हम में श्रद्धा की कमी क्यों है ? कुछ ऐसा प्रतीत होता है कि जिस जमाने में आर्यसमाज का उदय हुआ उस समय अन्ध विश्वास का सर्वत्र राज्य था। इस लिये आर्यसमाज को तर्कका विशेषतया अवलम्बन करना पडा। परन्तु यह तर्क शायद हममें इतना बढ गया है कि अपनी सीमा को उल्लंघन कर गया है और इस लिये श्रद्धा विहीनता का यही कारण नहीं है ?

इस लिहे हमें श्रद्धा और तर्क का ठीक ठीक स्थान समझ लेना चाहिये। आवश्यक तो ये दोनों वस्तुएं हैं। उनको दो विरोधी वस्तुयें समझना बडी भूल है। ये दोनों तो भाई और बहने हैं और परस्पर अत्यंत साहाय्यक हैं। एक सूत्र में कहा जाय तो श्रद्धा होनेपर ही हम अगला तर्क ठीक कर सकते हैं तथा तर्क द्वारा श्रद्धा स्थापित होती है। इसके समझनेके लिये हमें श्रद्धाका स्वरूप देखना चाहिये। श्रद्धा का सरल भाषार्थ है "सत्यमें विश्वास" इसका शब्दार्थ भी श्रत्+धा अर्थात् सत्य की धारणा ऐसा होता है। जब तक हमारी किसी सत्य में श्रद्धा नहीं होती तब तक वह सत्य हमारे हृदयमें पूर्ण तरह नहीं जमता। श्रद्धा ही हमारे अन्दर सत्य को दृढता से जमा देती है। और जब हममें कोई सत्य जम जाय सभी हम उस के आधारपर तर्क द्वारा अगला ज्ञान प्राप्तकर सकते हैं। उदाहरणार्थ—यदि हमें इस प्रसिद्ध व्याप्ति में कि 'जहां जहां धुआं होता है वहां अवश्य आग होती है' श्रद्धा न हो तब हम इस आधार पर कोई ज्ञान नहीं पा सकते—तर्क नहीं कर सकते। अतः तर्क के लिये श्रद्धा जरूरी है। और श्रद्धा भी तर्क से होती है। जब हमें किसी मनुष्य में या

ग्रन्थमें श्रद्धा होती है तो असल में हमारा मन पहले तर्क करता है कि ऐसे मनुष्य की या इस मनुष्यकी, ऐसे ग्रंथ की या इस ग्रंथकी बातें सच्ची ही होती हैं अतः यह जो कुछ कहता है वह ठीक है। नहीं तो हर एक आदमी या हर एक बात में हमारी श्रद्धा क्यों नहीं हो जाती। वस्तुतः जहां कहीं हमारी श्रद्धा जमती है वहां पहले तर्क काम कर चुका होता है। अतः यह स्पष्ट है श्रद्धा और तर्क परस्पर अत्यंत संबद्ध हैं। जिस में जितनी अधिक श्रद्धा होगी वह उतना ही उच्च तर्क कर सकेगा और ठीक सत्य प्राप्त कर सकेगा। हम में श्रद्धाकी कमी है अतः हमारा तर्क भी हमें बहुत दूर नहीं पहुंचाता और हमारे लिये उच्च सत्य को नहीं प्रकाशित करता।

इस लिये जरा ऋषिबोध की घटना परही विचार कीजिये। बालक मूलशंकर के रूपमें विद्यमान उस भावी ऋषिने उस रात बेशक यह तर्क किया कि जो अपने शरीर पर से चूहे को भी हटा नहीं सकता वह शिव नहीं हो सकता। परतुं हमें इसका यह तर्क ही दिखाई देता है इसकी आधारभूत जो गहरी श्रद्धा उसमें विद्यमान थी उस पर हमारी दृष्टि नहीं पहुंचती। उस महान् बालक को पता लगा कि उसदिन शिव के उपलक्ष्यमें उपवास करना चाहीये उसने माताद्वारा रोके जाने परभी श्रद्धावश उपवास किया। उसे बडों से पता लगता था कि इस शिवरात्रि को जागरण करना चाहिये, बस उसने रातभर जागरण व्रत का निश्चय करलिया और संपूर्ण रात्रि आखों पर पानी के छींटे डाल डाल कर अपने व्रतको निवाहा।

उस छोटेसे बालक की यह श्रद्धा अनुभव करने ही योग्य है। इसी श्रद्धा का बल था कि वह ऐसा महान् तर्क कर सका जो कि पीछे सहस्रों की आंखें खोलने वाला हुआ। यदि तर्क न्याय शास्त्र पढलेनेसे ही। आ जाता हो उन पुजारियों में भी कई न्याय के पढे हुए पण्डित होंगे जो कि वहां शिवमन्दिर में उस रात पडे सोते रहे, जब कि श्रद्धामय मूलशंकर पास जागता रहा। इसीलिये चाहे उन्होंने सेकडों बार शिवमूर्ति पर चूहे चढने जैसे दृश्य देखे होंगे परन्तु फिरभी वे मूलशंकर जैसा तर्क न कर सके। इसका कारण यही है कि विना श्रद्धा के ठीक तर्क किया ही नहीं जा सकता। असली तार्किक वही है जो कि श्रद्धालु है इस अश्रद्धालु ओं के तर्क प्रायः कुतर्क होते हैं और वे हमें सत्य पर नहीं पहुंचाते तथा कहीं ओर भटका देते हैं।

अतएव भगवान् व्यास ने लिखा है " तर्का प्रतिष्ठानात् " यदि हम हर एक बात सचमुच तर्क से ही निश्चय करने लगें तो हम एक छोटीसी क्रिया भी नहीं पूरी कर सकेंगे। परन्तु मनुष्य स्वभावतः बहुत सी बातों को बिना तर्क के मान लेता है। " श्रद्धामयोऽयं पुरुषः" हमारे शायद तीन चौथाई काम जरूर कर केवल श्रद्धा के बल पर होते हैं। यदि हम हर एक बात में तर्क करने लगें तो हमारा जीवन ही असंभव हो जाय। हम सब तर्क द्वारा जान ही नहीं सकते इसी लिये शब्द प्रमाण मानने की आवश्यकता होती है नहीं तो बौद्धों की तरह प्रत्यक्ष और अनुमान ही हमारे लिये काफी थे। परंतु हमें चूंकि तर्क के अप्रतिष्ठान आधार पर नहीं

रह सकते इसलिये हमें अनुभवी पुरुषों की, आप्त जनों की बात मान लेनी आवश्यक होती है और वह प्रामाणिक होती है। ऐसी अवस्थाओं में सत्य जानेनेका और कोई तरीका हो नहीं होता। यदि मैं जन्म से अन्धा हूं तो स्पष्ट है कि मैं किसी वस्तु के रूपको नहीं देख सकता और उसके आधार से किये जानेवाला तर्क भी नहीं कर सकता। तो जो वीज आंखसे देखने हैं की उन्हें मैं सब आंख वालों के कहने पर यदि श्रद्धा कर न मान लूं. और इस दर्शन से अनुमित वालों को भी मैं न मानलूं, तो मैं केवल अपनेको ज्ञानसे वंचित करूंगा और हानि उठाऊंगा। इसी तरह असल में हम सब लोग बहुत सी बातों के लिये अन्धे हैं-जिन उच्च अवस्था ओं को हमने प्राप्त नहीं किया है वहां के सत्यों को हम नहीं जान सकते और इन सत्यों के आधार पर तर्क करके जानी हुई बातों को भी नहीं जान सकते। इसलिये यदि इस स्थिति को प्राप्त कोई आप्त पुरुष हो या फिर उस के वचन हों तो हमें उसकी बात पर श्रद्धा ही करनी चाहिये। वहां तर्क करना वृथा है। यदि हम उस की बात नहीं मानेंगे तो हमारी ही हानि है और कुछ नहीं। इस लिये ऋषि मुनि महात्मा ओं पर श्रद्धा करनी चाहिये। वेदपर श्रद्धा करनी चाहिये। उन आप्तों की कही बातें यदि पूरी तरह नहीं समझमें आती हो तो भी कुछ देर तो श्रद्धा पूर्वक आचरण करते हुवे उन्हें समझने का यत्न करना चाहिये। यह बात व्यर्थ है कि हमें तर्कसे यह समझ में नहीं आयी। वहां श्रद्धा ही तर्क है। एक कथा है कि एक कुवें के मेंढक के पास एक समुद्र का मेंढक

गया। समुद्रके हे मेंढक ने कहा कि समुद्र बहुत बडा है। पास पडे हुवे पत्थरकी तरफ इशारा करके कूपमण्डूकने पूछा ‘ क्या इससे भी बडा है? ’ उसने कहा ‘ इससे क्या इस कुंवेंसे भी न जाने कितना बडा है। ’ इस पर इस कुवे के मेंढक को बडा गुस्सा आ-गया और उसने कहा ‘ जा झूठे, तू यहां से चल जा। ’ यह बिचारा कुवेंका मेंढक जिसने कि कुवेके सिवाय कभी कुछ वस्तु नहीं देखी कैसे मान सकता है कि कुवें से भी बडी वस्तु कोई होगी। यही हालत बहुत बार हमारी होती है। कई बार सचमुच किसी सूक्ष्म सत्य के बताये जाने पर हमें क्रोध आया करता हैं, जहां कि असलमें हमें श्रद्धा होनी चाहिये। इस प्रकार ज्ञान प्राप्त करने के लिये श्रद्धा और शब्द प्रमाण कितने आवश्यक हैं यह पाठक समझ गये होंगे।

साथ ही सत्य में श्रद्धा होनेसे बडा बल प्राप्त होता है। श्रद्धा के बल पर हम दुनिया में जम जाते हैं। यदि हम तर्क करें तो हमें खडे खडे होने को जगह नहीं है। ऐसी हालत में हम सदा संश-यित अवस्थामें रहेंगे इसलिए हमें चाहिये, कि जिस चीज का ज्ञान हो जाय कि यह सत्य है उस पर हम श्रद्धा करें-इस पर दृढ विश्वास जमावें। यदि हमारी किसी एक सत्यपर ही पूरी श्रद्धा हो जाय तो हममें इतना बल प्रगट हो जायगा कि बडा आश्चर्य होगा। सब महापुरुष दुनियाकी किसी एक सचाई में अगाध विश्वास रखने के कारण ही महापुरुष हुए हैं! ऋषि दयानन्द की सत्यपर श्रद्धा थी—परमात्मापर अटल श्रद्धा थी, इस लिये वे परमात्मा को सदा

अपने साथ अनुभव करते थे और उस की सर्व शक्तिमत्ता की छाया अपने ऊपर समझते हुए सत्य का प्रचार करते थे । इसी लिए वे इतने बली थे निर्भीक थे प्रतापी थे । यदि हमें पूर्व जन्ममें विश्वास हो आत्मा की अमरतामें विश्वास हो, कर्मा के अलट फलमें विश्वास हो सत्य की ही जय होने में विश्वास हो, तप की शक्तिमें विश्वास हो इनमेंसे किसी एक बात में अटल श्रद्धा हो तो हम असाधारण पुरुष बने विना नहीं रह सकते । श्रद्धामें ऐसा ही बल है । इस श्रद्धा से विपरीत है अविश्वास संशयात्मता । भगवान कृष्णने चौथाई श्लोकमें कह दिया है " संशयात्मा विनश्यति " संशयस्वभाव पुरुष का नाश होता है । हमारी किसी भी सत्यमें दृढ श्रद्धा न होनेके कारण हम हरएक बातमें शंकित रहते हैं, " इससे न जाने क्या होगा इसका कुछ फल होगा या नहीं । " हमारे सब काम इसी संशयात्मतामें किये जानेके कारण वे सब निर्बल होते हैं और उन का कुछ फल नहीं होता अथवा बहुत अपर्याप्त फल होता है । इसी लिये वेदने बतलाया है ।

श्रद्धया विन्दते वसु ।

हरएक प्रकार की सफलता श्रद्धासे मिलती है । परमात्मा की भिन्न भिन्न शक्तियों में विश्वास ही " देवताओं में श्रद्धा " है । जिसका जितने बडे सत्य में विश्वास होगा उसमें उतना ही अधिक बल प्रगट होगा और सफलता मिलेगी । जहांतक मनुष्यों में श्रद्धा होती है, निःसंशयावस्था रहती है वहां तक वह बडे वेगसे और शक्तिसे काम करता है यह सभी के अनुभव की बात होगी । इसलिये श्रद्धा जमाने का सरल उपाय यह है कि हम दिन में जो

भी काम करें हर एक काम श्रद्धासे करें इससे यह जरूर फल होगा इस विश्वास के साथ करें। श्रद्धा विहीन होकर, उसके लाभ में सन्देह रखते हुए या उसे निष्फल समझते हुये अप्रसन्न मनसे कोई भी काम न करे। हर एक कार्य का " वसु " तो श्रद्धासे हि प्राप्त होता है। यह बात किसकी अनुभव की हुई नहीं है कि यदि एक ही काम और समान काल में एक बार अश्रद्धासे और एक बार श्रद्धासे किया जाय तो उसका फल क्रमशः " बहुत कम लाभ " " बहुत अधिक लाभ " होता है। तो हम यदि निष्फल कार्य नहीं करना चाहते तो हम अपने सब कर्म श्रद्धासे करने चाहिये। संध्या श्रद्धासे कीजिये, व्यायाम श्रद्धा से कीजिये, शयन श्रद्धासे कीजिये, अपना हर एक काम श्रद्धासे कीजिये। चौवीसों घंटे हमारे अन्दर श्रद्धाका राज्य रहे। तब हम इस वेदोक्त प्रार्थना में संमिलित हो सकेंगे कि—

श्रद्धां प्रातर्हवामहे श्रद्धां मध्यन्दिनं परि।
श्रद्धां सूर्यस्य निमूरुचि श्रद्धे श्रद्धापयेह नः॥

ऋ० १०।१९१।९

अर्थात् प्रातः हम अपने में श्रद्धा को बुलावें, दिनभर हममें श्रद्धा रहे, सायं को भी श्रद्धा का आह्वान करे, हे श्रद्धे ! तू हमें सदा श्रद्धायुक्त रख।

यदि हम इस प्रकार अपना जीवन श्रद्धा मय बनावेंगे तो हम श्रद्धामूर्ति दयानन्दके शिष्यों पर कोई लाञ्छन न लगा सकेगा कि आर्य समाज के लोक साधारणतः अश्रद्धालु होते हैं।

---

(१०) सत्य ।

अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि तत्ते प्रब्रवीमि
तच्छकेयं तन्मे राध्यतामिदमहमनृतात्सत्यमुपैमि ।

एक बार एक विद्वान् लेखक ने ऋषि दयानन्द पर लिखनेके लिये 'सत्यका दूत' यह अतीव उपयुक्त शीर्षक दिया था। सचमुच दयानन्द सत्य का सन्देश लेकर ही संसार में आये थे। उन्होंने दुनिया में जहां कहीं असत्य देखा उसका खण्डन किया और जहां जो सत्य देखा वह जरूर कहा, फिर चाहे सब संसार उनसे नाराज हो जाय, लोग इंटे बरसायें या जहर भी दे देवें। उन्हें सत्य प्यारा था-सदा प्यारा था और सत्यस्वरूप परमात्मा में भक्ति थी। पिछले लेखमें यह जान चुके है कि सत्य और श्रद्धा बहुत नजदीकी वस्तुयें हैं सत्य में विश्वास का नाम ही श्रद्धा है। इसलिये श्रद्धालु दयानन्द स्वभावतः "सत्यके दूत" हुवे और जगत् में ईश्वरीय सन्देश फिरा गये। सत्यार्थ का प्रकाश करना ही एक मात्र उनका जगत् में उद्देश्य था। हम उनके आर्य समाजमें उनके इस महान् सन्देश का अनुसरण करनेके लिये ही प्रविष्ट हुवे हैं। वे जो हमारे लिये खजाना छोड गये हैं उस में एक चमकता हुवा अनमोल हीरा यह है।

सत्यके ग्रहण करने और असत्य के
त्यागने में सदा उद्यत रहना चाहिये ।

यह सब जगत् अटल सत्य नियमसे चल रहा है। सबने सत्य स्वरूप तक सत्यमार्ग से ही पहुंचना है। इसीलिये उपनिषद् में कहा है–" **सत्यमेव जयते नाऽनृतम् सत्येन पन्था विततो देवयानः।** "

और इसीलिये सत्य सब से बडा धर्म है। सब पुण्य कार्य, सत्यमें समाजाते हैं और सब अधर्म और सब पाप 'असत्य' या 'अनृत' इस शब्द से समझे जा सकते हैं। क्यों कि धर्म और अधर्म अटल सत्य नियमों का पालन करना और तोडना है। जब हम सत्य व्यवहार करते हैं, तब जगत् की सब शक्ति हमारे पीठ पर होती है, हमारे अनुकूल होती है और जब हम थोडासा भी असत्य करते हैं, चाहे हम न जानें, तब हम महान् शक्ति को ललकारते हैं और स्वभावतः दुःख पाते हैं। जो है वह सत्य है और है नहीं वह असत्य है, तो सत्य के विपरीत आचरण करना, व्यर्थ में अपना सिर शिला से टकराना है। यदि हम इस इतनी स्पष्ट बात को समझ जांय तो हम कभी भी असत्य बोलना न चाहें, कभी भी असत्य न सोचें और कभी असत्य न करें।

संसारमें अवश्य धोखे से भी सफलता मिलती दिखायी देती है। परन्तु यह सफलता क्षणिक होती है और असलमें अवास्तविक होती है। फिरभी यह जितनी सफलता दिखायी देती है वह इस लिये होती है कि असत्य सत्य का रूप धर आया होता है। कोरे नंगे असत्य से किसी को धोखा नहीं दिया जा सकता। यदि सत्य के रूप धरने से ही कुछ क्षणिक सफलता मिलती है तो

असली सत्य द्वारा ही क्यों न चिरस्थायी सफलता प्राप्त की जाय। इस धोखेसे मनुष्यको सदा बचना चाहिये।

यही ठीक है कि सत्य का जानना भी बडा कठिन है। परन्तु यह तभी तक है जबतक कि सत्य से प्रेम नहीं होता। जिसे सत्य की लगन है, यही जिसके लिये दुनियामें एक मात्र चीज है, उसके पास तो सत्यप्रेमी जन की तरह भागा आता है। उसके लिये सत्य बडा आसान होजाता है। तो बात प्रेम की है। सत्य में अपना प्रेम पैदा कीजिये, सत्य से अपना अटूट नाता जोड लीजिये। यह एक ही वस्तु हमें हमारे उद्देश्य तक पहुंचाने के लिये पर्याप्त है।

यह जीमें आता है और उचित प्रतीत होता है कि यदि आजकल के जगत् में विद्यमान एक महात्मा के वचन जिसका की सत्य ही प्राण है और सत्य के लिये जो जी रहा है उसके कुछ वचन उद्धृत कर दूं। मैं आशा करता हूं जैसे मुझे उन वचनों के पढने से सत्य के लिये उत्साहना मिलती है वैसे ही पाठकों को भी प्राप्त होंगी।

"कहते हैं कि एक न्यायाधीश ने प्रश्न किया कि 'सत्य क्या है।' उसका उत्तर उसे नहीं मिला। पर हिन्दुधर्म ग्रन्थों के अनुसार सत्य के लिये हरिश्चन्द्रने सर्वस्व अर्पण कर दिया और खुद स्त्री पुत्र सहित चाण्डाल के हाथ बिक गये, इमाम हसन और हुसैनने सत्य के खातिर अपने प्राण दे दिये। ऐसा होते हुवे भी उस न्यायाधीश को जबाब नहीं मिला कि 'सत्य क्या है'।

" हरिश्चन्द्र जिसे सत्य समझते थे उसके लिये तरह तरह के संकट सहकर अमर होगये । इमाम हुसैन ने जिसे सत्य जाना उसके लिये अपना प्यारा देह तक खो दिया, पर हरिश्चन्द्र और इमाम हुसैन का जो सत्य था वह हमारा सत्य हो या न भी हो। क्यों कि हर एक व्यक्ति का सत्य परिमित अथवा सापेक्ष सत्य होता है ।

" पर इस परिमित सत्य के बाद शुद्धनिरेपक्ष सत्य तो है ही । जो अखण्ड और सर्व व्यापक है यह अवर्णनीय है । क्यों कि सत्य ही तो परमेश्वर है अथवा परमेश्वर ही तो सत्य है ।

" इस लिये जिसने सत्य के सच्चे स्वरूप को पहिचान लिया है, जो ' काया वाचा मनसा ' सत्याचरण ही करता है उसने परमात्मा को पहिचान लिया है । और इसी लिये वह त्रिकालदर्शी भी होता है । वह जीवन्मुक्त है ।

" जिसका जीवन सत्यमय है वह तो स्फटिकमणि जैसा है । असत्य तो इसके पास एक क्षणभर भी टिक नहीं सकता । सत्याचरणी को कोई ठग भी नहीं सकता । क्यों कि उसके सामने दूसरों को असत्य भाषण करना असंभव होना चाहिये । संसार में सब से अधिक कठिन व्रत ही है । सत्य स्वयं प्रकाश और स्वयं सिद्ध है । पर मैं जानता हूं कि ऐसा सत्याचरण इस विषम कालमें कठिन ह, पर अशक्य नहीं है । जो पूरा सत्य वादी है वह तो अनजानमें भी न असत्य कहता है, न करता है । वह असत्य कहने और करने में असमर्थ हो जाता है । सत्य कहना और करना उसका स्वभाव हो जाता है ।

—"हमें हर एक कार्यमें सत्य ही का दृढता पूर्वक प्रयोग करना चाहिये। सत्यपर पूरी श्रद्धा रखनी चाहिये और जो सत्य मालूम हो उसे वैसा ही कहने में किसी से न डरना चाहिये। सत्य के अभाव में निर्दोषता असंभव है। सत्याचरण ही हमारी मुक्ति का द्वार है।

—"सत्य शब्द की व्युत्पत्ति सत् से है जिसका अर्थ है 'होना'। केवल परमात्मा ही सदा तीनों कालमें एकरूप है। इस सत्य की जिसने भक्ति की है, इसे अपने हृदय में बिठा दिया है उस पुरुष को मेरा सौ सौ वार प्रणाम है।

—"मैं तो यह कभी नहीं मानता कि अत्युक्ति से कभी जनता का थोडा भी भला हो सकता है। अत्युक्ति तो असत्यका ही एक रूप है। असत्य से यदि प्रजाकी उन्नति होती हुई दिखाई दे तो भी हमें तो उसका त्याग ही करना चाहिये। क्यों कि वह उन्नति आखिर अवनति ही सिद्ध होगी।

—"आधे सत्य को मैं डेढ असत्य कहता हूं क्यों कि वह दोनों को भ्रममें डालता है।

—"मेहतर के शरीरपर जो मैला लगता है वह तो शारीरिक, स्थूल होता है। उसे तो हम फौरन धो सकते हैं। पर अगर किसी-पर असत्य, पाखण्ड आदिका मैल चडजाय तब तो उसे धो डालना बहुत ही कठिन बात है। क्यों कि वह मैल बहुत सूक्ष्म होता है। अगर कोई अस्पृश्य कहा जाय तो असत्यवादी और पाखण्डी लोगों को भले ही ऐसा कह सकते हैं।

"जो सत्य प्रतीत हो उसका आचरण करना इसीका नाम "सत्याग्रह" है। तो जनता की सामाजिक आर्थिक और राजनैतिक उन्नति जितनी सत्याग्रहमें देख सकता हूं उतनी और किसी में नहीं।"

तो आइये आजसे हम सत्य का व्रत धारण करें और वेदमन्त्रद्वारा इसके लिये परमात्मा से अटल साहाय्य का प्रार्थना करें।

ॐ अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि तत्ते प्रब्रवीमि तच्छकेयं तन्मे राध्यतामिदमहमनृतात्सत्यमुपैमि ।

हे ज्ञानस्वरूप, हे सब व्रतों के स्वामी! मैं यह व्रत धारण करूंगा। यह आपके संमुख प्रतिज्ञा करता हूं। मैं इस व्रत को कर सकूं। मेरा यह व्रत करा ओ। मैं अनृत को छोडता हूं और सत्य को प्राप्त होता हूं।

---

(११) अहिंसा।

उदगादयमादित्यो विश्वेन सहसा सह ।
द्विषन्तं मह्यं रन्धयन्मो अहं द्विषते रधम् ॥ऋ. १। ५०।१३

यह वेद मंत्र ऋग्वेद के प्रथम मंडल के ५० वें सूक्त का अन्तिम मंत्र है। इसका अर्थ यह है। 'यह आदित्य परिपूर्ण बल के साथ उदय हुवा है'। क्या करता हुवा? "मेरे लिये द्वेष शत्रु

का नाश करता हुवा। इसलिये मैं द्वेष करने वाले का कभी नाश मत करू"। इस मंत्र का अन्तिम पद तो सब उन्नति चाहने वाले आर्य पुरुषोंको कण्ठाग्र याद कर लेना चाहिये। **मो अहं द्विषते रधम्**। (अहं) मैं (द्विषते) द्वेष करने वाले का (मा उ) कभी मत (रधम्) नाश करूं। परन्तु मनुष्यके चित्त में शंका पैदा होती है, कि मैं द्वेषी का क्यों नाश न करूं? जब वह मुझ से द्वेष करता है, मुझे कष्ट देता है तो मैं उसे कष्ट क्यों न दूं?। इसी बातका उत्तर पहिले तीन पादोंमें दिया है।

मैं इसलिये नाश न करूं क्योंकि संसार में एक आदित्य उदय हुवा हुवा है। **पूर्ण** बल के साथ उदय हुवा हुवा और वह द्वेष करने वाले का नाश कर रहा है। यह बतलाने की तो जरूरत नहीं कि इस प्रकरण में वह आदित्य परमात्मा है और उसका पूर्ण बल (विश्वसहः) उसकी सर्व शक्तिमत्ता है। वह हिंसा करने वाले का नाश करता है। यह उसका स्वाभाविक गुण है तो म क्यों व्यर्थ में द्वेषी के नाश करने म लगूं? क्यों कि यदि उस द्वेष करने वाले का नाश होना चाहिये तो वह होरहा है, मैं उस का दण्ड विधाता बनने के लायक नहीं हूं। परन्तु बदला लेना प्रति हिंसा करना, केवल इस कारण अनुचित नहीं है, इतना भारी पाप नहीं है। यह तो अपना नाश करने वाला है इस लिये घोर पाप है। नाशकारकता साफ है क्यों कि वह सर्व शक्तिमान् उदित हुवा आदित्य द्वेष करनेवाले का नाश करता है। "द्विषन्तं रन्धयन्" वह सदा है। हम द्वेष करेंगे—चाहे हम बदले में करें

या स्वयं शुरू करें—वह अपने स्वाभाविक गुण के अनुसार नाश करेगा। यह समझना कि यदि मैं द्वेष करूंगा तो मेरा नाश नहीं होगा बडे अंधेरे में रहना है। अतःहमें प्रति हिंसा इसी लिये नहीं चाहिये क्यों कि इससे हमारा नाश होता है। परन्तु हमने यह बात नहीं समझी है इस लिये हमें जो कोई गाली देता है हम और बढ कर गाली देते हैं जो हमें दुःख देता है हम दांत पीस कर उसे और दुःख देना चाहते हैं। जो हमारी कुछ हानी करता है हम उसे जानसे मार डालने का यत्न करते हैं। किसी पूर्ण न्याय कारी को अपने ऊपर न देख कर व्यक्ति व्यक्ति का बदला ले रहा है, ईश्वर के पुत्रोंका एक समुदाय दूसरे समुदाय से लड रहा है, और फिर एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र का नाश करना चाह रहा है। कभी भारत में हिन्दु और मुसलमान आपस में प्रति हिंसा कर रहे हैं और कभी बडे बडे राष्ट्र प्रति हिंसा का इच्छा से इस वसुंधरा को शत्रु रुधिर से प्लावित करने की तय्यारी कर रहे हैं। यह सब दुनियामें क्यों हो रहा है, इसी लिये कि हमें इस वेद वचन पर विश्वास नहीं। यह विश्वास नहीं कि दुनिया पर कोई सर्वशक्तिशालिनी सत्ता राज्य कर रही है और वह द्वेष करने वाले का सदा नाश कर रही है। इस लिये हम स्वयं ही द्वेषी को दण्ड देने के बहाने से प्रति हिंसा में लग जाते हैं और यह भूल जाते हैं कि हम ही इस कार्यद्वारा उस सच्चे शासक के दण्डनीय बन रहे हैं और अपना नाश कर रहे हैं। सच तो यह है कि इस विश्वास के विना अहिंसक बनना असंभव है। जिसे परमात्मा के न्याय पर विश्वास नहीं वह कभी 'अहिंसा'

धर्म का पालन नहीं कर सकता। इस हिंसा बहुल संसार में जो कुछ 'अहिंसा' के उज्वल पवित्र दृश्य दिखायी देते हैं उनके मूल में यही सत्य विश्वास होता है। संसार ग्रस्त लोग कहते हैं ऐसे कष्ट सहन से कुछ लाभ नहीं है, परन्तु जो उस आदित्य को उदय हुवा देख रहे हैं वे इनकी बात को वैसे मानलें। उन्हें तो दीखता है कि जो मनुष्य प्रति हिंसा नहीं करता—हिंसा को सहता जाता है वह अपने को परमात्मा की छत्र छाया में लेजाता है उस सर्व शक्तिमान की सर्व रक्षक शरण में हो जाता है और जो बदले में तलवार चलाता है वह केवल उस तुच्छ तलवारकी शरण में जाता है और उस परमात्मा का अपराधी भी साथ साथ बनता है। उन्हें तो इतना भारी भेद दिखाई देता है इसलिये वे 'शत्रु के प्रहार को सहना' ही अपने लिये अति कल्याणकर समझते हैं।

इसी लिये संसारके उस वर्तमान महापुरुष ने जो कि जगत् में अहिंसा धम की स्थापना के लिये आया है अथवा संसार की बढी हुई हिंसा ने जिसे बुलाया है उस गांधीनें सन १९२२ में चाहा था कि यदि बारडोलीके भारत वासी निहत्थे खडे हों और उनके चित्तमें अंग्रजों क प्रति द्वेशका लेश तक न हो बल्कि वे हृदयसे उनकी मंगल कामना कर रहे हों और उनपर और उनपर अंग्रेजी सरकार की गोलियां बरसकर उनके सिर ऐसे फोडती जांय जैसे कि फटा फट कच्चे घडे फूटते जाते हों तो वह दृश्य भारत के लिये बल्कि जगत् के लिये—परम परम सौभाग्य का होगा। ऐसा दृश्य चाहने का बल उसी में आसकता है जो कि जगत् में सर्व

शक्तिमान् आदित्य को काम करता हुवा साक्षात् देख रहा है। सचमुच ऐसा द्रष्टा थोडेसे तोप बन्दूकों की सहायता के प्रलोभन को छोड कर सर्व शक्तिमान् की ही अक्षय सहायता को चाहता है। भगत प्रल्हाद को इतने दुःख सहने का साहस था—लगातार अहिंसक रहने का साहस था-तो इसी कल्याण कारी विश्वास के बल पर था। ऋषि दयानन्द को जब जगन्नाथ ने जहर खिलाया, तो उन्हें उसपर करुणा उत्पन्न हुई, अंदर से दया का स्रोत वह निकला उन्होंने उसे कहा कि खैर जो कुछ तूने किया अब तू यहां से चला जा नहीं तो मेरे भक्त तुझे तंग करेंगे। भाग जाने के लिये उसे अपने पास से रुपये दिये। जहर खाकर उन्हें चिन्ता वह हुई कि जिसने उन्हें मारा है उस की रक्षा कैसे हो, इसमें अपने मरनेको भी भुला दिया। उस वेद वचन को समझने वाला ही ऐसा कर सकता है यह एक कदम और आगे है। कि जो हमारी हिंसा करे, हम उसकी हिंसा न करें यही नहीं किन्तु उसकी भलाई करें। यह ऋषि दयानन्द का उपदेश है। क्रोधके स्थान पर करुणा, मारने वाले पर भी दया। सारे जीवन भर जो उन्होंने गालियां सुनीं, पत्थर ईट खायीं, और न जाने क्या कष्ट सहे यह सब बातें हमें और क्या उपदेश देती हैं। तो क्या दयानन्द के शिष्य 'हिंसक' होने चाहिये, दूसरे का बदला लेने वाले होने चाहिये दयानन्द का स्मरण कर हमें अपने हृदयों को इतना विशाल बनाना चाहिये कि हम अपने दुःख देने वाले पर दया के अतिरिक्त और कुछ कर ही न सकें। अवश्य ही यह जानकर कि मेरी हिंस

करने वाला अज्ञानी परमात्मा के अटल नियमों का शिकार होगा, उस विचारे पर दया ही आनी चाहिये, न कि स्वयं क्रोध कर दण्ड के भागी बनना चाहिये। इस लिये इस मास हमें यही वेद का उपदेश है कि—

' हिंसा मत करो '

अपनी हिंसा करने वाले को परमात्मा पर छोड दो हम तो अल्पज्ञ हैं। बहुत बार अपनी भलाई को भी हम तो हिंसा समझ लेते हैं और यदि ऐसे समय भी बदला लेने लगते हैं तो कितनी घोर मूर्खता में पडे होते हैं। वह सर्वज्ञ परमात्मा ही सब को ठीक जानता और सब को सदा ठीक दण्ड देता है। यह उसी का काम है। हमें तो अपने हिंसक को परमात्मापर छोड अपनी रक्षाके लिये भी परमात्मा ही की शरण पानी चाहिये। पर आप शायद कहेंगे कि हमें तो विश्वास नहीं होता कि परमात्मा पाप का दण्ड देता है, दयानन्द जैसे महात्माओंको यह विश्वास था अतः वे अहिंसा कर सकते थे' परन्तु यह याद रखना चाहिये कि विश्वास यूंही किसी को नहीं हो जाता। महात्माओं को भी कर्म करने से ही धीरे धीरे विश्वास पैदा हुवा होता है। आप भी अहिंसा का पालन शुरू कीजिये जो आपकी हिंसा करे उसका जबाब मत दीजिये, कुछ समय में यदि यह सत्य है तो इस पर अवश्य विश्वास हो जायगा। मैं तो कहता हूं कि 'मो अहं द्विषते रधम्' यह वेद की आज्ञा है, इसे स्वतः प्रमाण मान कर अहिंसा का व्रत लीजिये तो थोडासा अहिंसा पर आचरण करने से

आपमें इसके लिए थोडी सी श्रद्धा अवश्य उत्पन्न होगी, उस श्रद्धा से आप और अधिक अधिक अहिंसक बनगे और तब और अधिक अधिक श्रद्धा बढेगी। असल में परमात्माकी प्राप्ति की तरफ चलते हुवे हमें दिनों दिन अहिंसक ही होना होगा क्यों कि और सब गुणोंकी तरह अहिंसा की भी भगवान् पराकाष्ठा हैं। और धर्मोंमें अहिंसा तो परम धर्म है। योग शास्त्र में यम नियमों पर व्याख्या करते हुवे व्यास भगवानने कहा है कि अहिंसा इन सबका मूल है, अन्य सब धर्म तो अहिंसा को पुष्ट करने के लिए ही बताये जाते हैं असल में एक धर्म अहिंसा है इसकी सचाई अहिंसा के पालन करने वाले को ही पता लग सकती है। आशा है हम इस परम धर्म को आजसे अपने जीवन में लाने का सतत यत्न करते हुवे अपने जीवन को कृत कृत्य बनायगें।

---

(१२) विश्व प्रेम।

दृते दृहं मा मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्। मित्रस्याऽहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे। मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे। य० ३६।१८

'हे अज्ञानान्धकार के निवारक देव! मुझे सब भूत मित्र की दृष्टि से देखें। मैं सब भूतोंको मित्र की दृष्टि से देखूं। एवं हम सब परस्पर मित्र दृष्टि से देखा करें इस प्रकार हमें आप दृढ कीजिए।

इस मन्त्र में जिस धर्मका प्रतिपादन किया गया है यदि हम जब अन्तमें इसे अपने जीवन में चरितार्थ करेंगे तो हम निःसन्देह कृत कृत्य हो जायंगे । पछिली बार अहिंसाधर्मका उल्लेख हुआ है। अहिंसा, शब्द जिस बातका निषेधात्मक रूपमें वर्णन करता है उसी का भावात्मक रूप विश्वप्रेम है। यदि हम सब भूतों को, सब प्राणिओं को मित्र दृष्टिसे देखनें लगें तो हमारे और बहुत से पाप भी स्वयमेव दूर हो जांय। क्यों कि तब हम ऐसे ही सब कर्म करेंगे जो कि एक मित्र के साथ करने चाहिए। मित्र अपना होता है और उस के साथ आत्मदृष्टिसे भी अधिक प्रेमदृष्टि से व्यवहार किया जाता है। इस लिए तब हम सुवर्णीय नियम के अनुसार दूसरे से वैसा ही बर्ताव करेंगे जैसा कि हम अपने लिये बर्ताव चाहते हैं इस प्रकार तब हम किसी को भी (सभी हमारे मित्र हैं) कष्ट नहीं पहुंचायेंगे, क्यों कि हम स्वयं कष्ट नहीं पाना चाहते-किसी को धोखा नहीं देवेंगे क्यों कि हम धोखा खाना नहीं चाहते, किसी का माल नहीं चुरायेंगे क्यों कि अपना माल चोरी होना नहीं चाहते। इसी प्रकार मित्र दृष्टि प्राप्त कर लेने पर अन्य सब धर्म के अंग भी अपने आप पाले जांयगे। वही इस धर्मका माहात्म्य है। अब जरा अपनी कल्पनामें एक छोटे समुदाय को ही चित्रित कीजिये जहां कि सब परस्पर दूसरे मित्र दृष्टिसे देखते हों, मतभेद रखते हुवे भी प्रेम करते हों, परोपकारमें रत हो, परस्पर दूसरे के अधिकारों की चिन्ता रखते हों, तो आपके सामने सच्चे स्वर्ग का दृश्य आजायगा। क्या आप इस स्वर्गको नहीं लाना चाहते? शायद आपका विचार एक दम बाहर जायगा और

आप कहेंगे कि हम तो इस स्वर्ग को लाना चाहते हैं किन्तु अन्य लोग इसे नहीं लाने देते। यह शिकायत तभी तक है जब तक कि स्वयं इसके लिये यत्न नहीं किया जाता। एक ही जगत् एक आदमी के लिये स्वर्ग और दूसरे के लिये नरक हो सकता है। यह अपने हाथमें है। इसी लिये इस वेद मंत्रमें चाहा गया है कि सब मुझे मित्रदृष्टिसे देखें और फिर उसका उपाय बताया गया है कि मैं सब को मित्र दृष्टि से देखूं। सब को स्वयं मित्रदृष्टिसे देखना शुरू कीजिये, सब आपके मित्र हो जायंगे। और आपको स्वर्ग मिल जायगा। पतंजलि मुनि तो कहते हैं तब आपके चारों ओर के प्राणी भी आपस में वैर नहीं कर सकेंगे। क्या उन्होंने यह यूं ही कह दिया है। नहीं हम अपने प्रेमसे सचमुच संसार को नया बना सकते हैं। यही योग है, यही परमात्मा की प्राप्ति है। सब जगत् में अपने प्रेम को फैला देना ही परमात्म प्राप्ति है। क्यों कि परमात्मा का सब जगत् में—जगत् के क्षुद्रसेक्षुद्र प्राणीमें-पुत्रवत् प्रेम है वात्सल्य है, वे सब के पिता हैं। यदि हम सब को अपना भाई समझें, प्राणिमात्र में मित्र दृष्टि रखें, तो हम परमात्मा के अपने आपको अनुकूल करते हैं, परमात्मा के पितृस्वरूप को साक्षात् देखते हैं। एव भक्त पुरुष हरएक वस्तु में परमात्मा को ही देखते हैं और हरएक वस्तु से प्रेम करते हैं। इस लिये मैं कहता हूं कि सब प्राणिओं में प्रेमदृष्टि करना परमात्मा के पास पहुंचना है। सब महापुरुष इसी प्रकार पहुच चुके हैं। ऋषिदयानन्द ने अपना प्रेम सब जगत में फैला दियाथा। वे प्राणिमात्र के बन्धु थे। यह इसी लिये। यदि आप भी कहीं पहुंचना चाहते हैं तो 'विश्व प्रेम' को अपना आदर्श बनाइये।

प्रेम का सूर्य हरएक जीव के अन्दर छिपा हुआ है। वह कभी अपने सहस्त्रों किरणों में जगमगा उठ सकता है। परन्तु उसके मार्ग में एक बाधा है, रुकावट है। यदि यह रुकावट दूर हो जाय तो फिर किरणों के फैलने में क्या देर लगती है। यह है **स्वार्थ खुदगर्जी** जो कि हमारे मार्ग में एक मात्र बाधा है। इसे ही अस्मिता, अहंकार, अविद्या आदि शब्दोंसे वर्णन किया जाता है। यही वृत्र है जिसने इस सूर्य को ढांप रखा है। इसी पर जय प्राप्त करने के लिये वेदों में इतनी युद्ध वर्णनायें हैं। हमें यह समझ लेना चाहिये कि 'स्वार्थ ही हमारा एकमात्र शत्रु है'। जितना जितना हम स्वार्थ के आवरण को हटांयगे उतना उतना ही हमारा प्रेम का सूर्य फैलता जायगा। हम अपने स्वार्थ को ही हटाते हुवे अपना स्वर्ग स्थापित कर सकते हैं— और कोई बाधा इस में नहीं है। इस लिये आइये अब देखें कि हम स्वार्थ ग्रस्त पुरुष किस क्रमसे बढते हुए अपने प्रेम सूर्य को पूर्ण विकसित कर सकते हैं।

पहिला कदम है अपने परिवार में यह स्वर्ग का राज्य स्थापित करना। माता पिता पत्नी पति भाई बहीन आदि सब परिवार के सभ्य परस्पर स्नेह दृष्टि से देखें, मधुर वाणी बोलें, एक दूसरे की सहायता करते हुए मिल कर रहें। परिवार में सबसे पहिले मनुष्य 'मुझे वैयक्तिक स्वार्थमेंही ग्रस्त नहीं रहना चाहिये, यह सीखता है। परन्तु परिवार के लिये स्वार्थ त्याग करना कुछ कठीन नहीं है। जो लोग अपने परिवार में ही वह प्रेम का राज्य नहीं ला सकते वे आगे समाज या देश की क्या सेवा कर सकेंगे यह बात अनुभव करनी

चाहिये। यदि परिवार में शान्ति नहीं है तो पहिले अपने प्रेममय और स्वार्थत्यागमय व्यवहारसे परिवार को यह पाठ पढाना होगा। यदि शान्ति है तो आप आगे देखें।

अब अपने समाजमें या अपने नगर में आप के सब मित्र होने चाहिये। हर एक मनुष्यके साथ आपका मित्र सदृश स्नेहका वर्ताव होना चाहिये। यदि आप अपने नगर या अपने समाज के लिये अपने स्वार्थ त्यागने के लिये तैय्यार हैं तो आपके लिये वहां कोई अमित्र नहीं रहेगा। इससे अपने दिलसे पूछिये कि अपने नगरमें या अपने समाज में मेरी किसीसे शत्रुता तो नहीं है। यदि है उसे त्यागिये और अपने स्वार्थ त्यागसे शत्रुको भी अशत्रु बनाइये। परन्तु मैं यहां आगे चलने से पूर्व एक स्पष्ट प्रश्न पूछ लेना चाहता हूं। कहीं आप पुराने संस्कारों के वश या उनमें वह कर यह तो नहीं भूल गये कि जिन्हें आज कल 'अछूत' कहा जाता है वे भी आपके नगर के और समाज के भाई हैं! क्या वे भी आपके साथ मित्र-वत् एक चटाई पर बैठ सकते हैं? कुवें पर चढ सकते? यदि नहीं तो सोचो कि क्यों?। क्या वे भाई नहीं?। यदि भंगी का कार्य मलिन है तो क्या यह कार्य हमारी मातायें नहीं करती, डाक्टर लोग नहीं करते? फिर क्या बात है। यदि वे मलिन रहते हैं तो यह तुम्हारे स्वार्थ के कारण है। पुराने ग्रंथों में पाखाना कमाने का पेशा करने वालों का कहीं जिक्रही नहीं है, इस के लिये 'शब्द' ही नहीं है। यदि वे हमारे लिये सफाई का इतना उपयोगी कार्य करते हैं तब तो हमें उनका बडा एहसानमन्द होना

चाहिये, उनको दुतकारना किस तर्क से सिद्ध होता है। यदि आप इन बातों को बहुत सुन चुके हैं तो पहिले स्वार्थ को धोकर अपने को पवित्र कीजिये तो तुरन्त आपका प्रेम इन परम उपकारी किन्तु पीडित जीवों तक फल जायगा। आप पश्चात्ताप कर इन्हें अपनायगें। आपके मित्रवत् व्यवहार को देख ये स्वयमेव अपने को स्वच्छता से भी रखेंगे। समझ नहीं आता कि जो इनमें से स्वच्छ रहते हैं उन्हें भी स्पर्श करने तक में झिझक क्यों होती है। क्या उनमें आत्मा नहीं है? । उनमें आत्मा और परमात्मा का बास यदि उन्हें हमारे लिये छने तक पवित्र नहीं बना देते तो निःसन्देह हम ही अपवित्र हैं। क्या आर्यसमाज में भी ऐसे व्यक्ति हैं जो इन्हें छू नहीं सकते, जिनके बच्चे इनके बच्चों के साथ पढ नहीं सकते, जिनके कुवों परसे ये बिचारे जल नहीं भर सकते। यदि ऐसा है तो इस खाई को बिना भरे आगे नहीं चल सकते। जब तक हम अपने समाज में अपने एक एक भाई को मित्रका स्वाभाविक हक नहीं देदेंगे तब तक हम समाज ही नहीं बना सकते और इसी लिये हमारे दुःख भी नहीं टल सकते। इस प्रश्न को बिना हल किये हमारे लिये कुछ और चारा नहीं है। यदि हम अपने क्षुद्र स्वार्थों की बलि देनेसे न डरें तो आर्य समाज एक झटके में अस्पृश्यताको दूर कर सकती है। क्या यह दयानन्द स्मरण का शुभ अवसर यूं ही देखते बीत जायगा और हमसे इतना भी न करा सकेगा। यदि हर एक आर्य आज से इन्हें मित्र की तरह स्पृश्य बना ले तो ही अच्छा है तब कहा जा सकता है कि

उसने दयानन्द जन्म शताब्दि कुछ मनाई है और वेद का उपदेश सुना है। अस्तु। एवं समाज के एक एक व्यक्ति में हमारा मित्र भावका प्रेम फैल जाना चाहिये।

आगे हमारा कुटुंब देश बनता है। इस कुटुम्ब का अनभव पाठक देशभक्ति के प्रकरण में कर चुके हैं। मातृभूमि के सब पुत्र हमारे भाई हैं। सब हिन्दु, सब मुसलमान, सब ईसाई, सब सिक्ख हमारे भाई हैं। प्रायः हम लोगों का प्रेमविस्तार अभी अपनी छोटी कौमों और फिरकों से ऊपर नहीं उठा है इस लिये इस कदम के बढानेमें हमें विशेष यत्न की जरूरत है। हमारा प्रेम सम्पूर्ण देशमें फैल जांय और देशके लिये अपने सब स्वार्थों को बलिदान करदें। मातृभूमि की सेवा करने के लिये बेशक हमें बहुत अधिक स्वार्थहीन होना पडेगा, परन्तु इस स्वार्थ हीनता वा प्रेमविस्तार से ही हमें सुख मिलेगा, क्यों कि ऐसा करने से हम परमात्मा के अधिक नजदीक पहुंचेंगे। देशके सब वासिओं के सुख में हम अपना सुख समझें, उन के दुःखसे हम दुःखित होजांय। देश भाइओं की ऐश्वर्य वृद्धि में हम अपने को धनी समझें और उनकी निर्धनता में अपनी निर्धनता। सारे देश में अपना प्रेम फैलाने का यही अर्थ है। और इस प्रेम विस्तार द्वारा हम अपने देशमें स्वर्ग ला सकते हैं यह कोई कठिन काम नहीं है, क्यों कि संसार के बहुतसे देश अपने इस देश प्रेमके बलसे सुख भोग रहे हमारे सामने विद्यमान हैं। परन्तु इस प्रकरण को समाप्त करने से पूर्व भी अपने आर्य भाइओं का एक बात की तरफ ध्यान आकर्षित करना जरूरी है यह प्रायः कहा जाता है और इसमें

सच्चाई भी जरूर है कि हममें ' परमतसहिष्णुता की कमी होती है। हम कई बार अपने देश भाइ ओंसे केवल मजहबी मतभेद के कारण घृणा करने लगते हैं और लडने झगडने तक लगते हैं। यह त्रुटि बडी आसानी से दूर की जा सकती है और हमें जरूर दूर कर डालनी चाहिये। ' मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे ' का वैदिकसन्देश रखने वालों को क्या यह भी बतलाने की जरूरत है कि धर्म का प्रसार प्रेम से ही होता है। अस्तु । हम देशके सब भाइओं को अपनी मातृभूमि के लिये प्रेम संबंध कर मिलजाना चाहिये और इस लिये अपना सब कुछ बलि चढा देना चाहिये तथा अधिक बलि की जरूरत हो तो उसे चढाने के लिये भी तैय्यार रहना चाहिये।

अगला कदम है सार्वभौम प्रेम+संसार के सब मनुष्योंसे प्रेम, मनुष्य-जातिसे प्रेम ॥ हमारी देशभक्ति दूसरे देशोंसे द्वेष के लिये नहीं। इस समय जो जगत् में एक देश भक्ति के नाम पर दूसरे देश को हानि पहुंचा रहा है, दूसरी जाति को पीडित कर रहा है इस द्वेष भाव को दूर करनेका सामर्थ्य भी इसी वेदाज्ञा के पालन में है, और इस की महान जिम्मेवारी वैदिक धर्मो के मानने वाले पर है। हमारा देशप्रेम जगत्प्रेम के विरुद्ध न होवे यह हमें ध्यान रखना चाहिये। इसके लिये हमें और भी अधिक बलिदान करने की जरूरत होगी, पर इसमे संसार का परम लाभ होगा। यह आर्यसमाज का कर्तव्य है कि उसकी स्वदेश भक्ति में परदेशद्वेष न आने पावे। अंग्रेज फ्रेंच या जापानी भी हमारे भाई हैं, वे मनुष्य जातिमें होने से हमारे भाई हैं, जगन्माता के पुत्र होने की

हैसियत से हमारे भाई है। तभी हम वैदिक धर्म को सार्वभौम कह सकेंगे और कुछ महत्त्व के साथ यह प्रार्थना कर सकेंगे कि “ मित्रस्य चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे। ”

परन्तु मनुष्यमात्र तक पहुंच कर भी कोई प्रेमविस्तार की अवधि नहीं होजाती। वेदने तो कहा है ‘ भूतानि ’ अर्थात् सब प्राणी, केवल मनुष्य नहीं। सब प्राणिमात्र में हमारा प्रेम होना चाहिये। पशु पक्षी आदि की जानको भी अपने जैसा समझना चाहिये। यहां तक अनुभव करना ‘ वैदिक धर्म ’ की ही विशेषता है। कहते हैं कि एक योरोपयि पुरुषने बंगाल के बडे दुष्काळ में आश्चर्यसे देखकर कहा था, कि ये लोग भूखे मरते जाते हैं, परन्तु पशु पक्षिओं को मारकर खाकर अपना जीवन बचाने की चेष्टा तक नहीं करते। यह घुसे हुए वैदिक धर्मके अवशेष का ही चिन्ह था। जहां पशुओं का मारना दैनिक कार्य है वहां के लोगों को आश्चर्य होना स्वाभाविक है। परन्तु वेद में तो सब जगह ‘ द्विपाद् चतुष्पाद् ’ के भले की इकट्ठी प्रार्थनायें होती हैं। बिचारे पशु पक्षी हमसे लडकर भिडकर कुछ नहीं ले सकते, बहुत कुछ हमारी दयापर है अत एव इन्हें प्रतिदिन हमें ही देना चाहिये यह वेद हमें सिखाता है। गोरक्षा के धर्म होने में यही रहस्य है। वहां गौ सब इन दीन प्राणिओं की प्रतिनिधि होती है। कहते हैं कि स्वामी दयानन्दजी को एक बार एक आदमीने देखा कि उनके कलम पर मक्खी बैठगयी तो उन्होंने लिखना बन्द रखा जब तक कि वह स्वयं उड न गयी। स्वामी रामतीर्थ सांपको भी भाई कह के पुकारते थे। अमेरिकन एम

सेन भिडों के छत्ते के पास रहता था । मतलब यह है कि प्राणीमात्र के अन्दर मित्र दृष्टि होनी चाहिये । अपने प्रेम से जगत् को भर देना चाहिये । प्राणी ही क्यों कोई भी वस्तु (भूत) ऐसी नहीं होनी चाहिये जहा कि हम प्रेम से न देख सकें । भूत का असली अर्थ तो उत्पन्न हुई हुई एक वस्तु है । महात्मा गण संसार की एक एक घटनामें भी, दुःखमें भी प्रेम ही करते हैं । उन्हें हरएक वस्तुमें हरएक बातमें परमात्मा ही दिखायि देते हैं—और वे सदा प्रेम ही करते हैं । यह स्वार्थ को, कामना को सर्वथा त्याग देनेसे स्थिति प्राप्त होती है । जब कि सब स्वार्थों की बाधाओं को दूर कर प्रेम का सूर्य जब जगत् में व्याप जाता है उस अवस्थाका ही वर्णन वेद में किया है कि—

तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ।

आशा है हम भी स्वार्थ को नष्ट करते हुवे जहां तक पहुंच चुके हैं उसके आगे प्रेम को विकसित करनेका यत्न करेंगे । और इस आदर्श को कभी नहीं भूलेंगे कि—

मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे ।

मुद्रक—रा. **चिंतामण सखाराम देवळे**, मुंबईवैभव प्रेस, सर्व्हंट्स् ऑफ इंडिया सोसायटीज् बिल्डिंग, सँढर्स्ट रोड, गिरगांव—मुंबई.

प्रकाशक,—**श्रीपाद दामोदर सातवळेकर**, स्वाध्याय मंडल; औंध (जि. सातारा).